नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक

बिगुल

मासिक समाचारपत्र • पूर्णांक 124 • वर्ष 10 अंक 10
नवम्बर 2008 • तीन रुपये • 12 पृष्ठ

अक्टूबर क्रान्ति (7 नवम्बर) की 91वीं वर्षगाँठ के अवसर पर

फिर सताने लगा है पूँजीवादी दुनिया को कम्युनिज़्म का हौवा!

फिर साम्राज्यवादियों-पूँजीपतियों को आने लगे हैं मज़दूर क्रान्ति के भयावह दुःस्वप्न!!

अक्टूबर क्रान्ति के नये संस्करण अवश्यम्भावी हैं

सम्पादक

इस वर्ष (नये कैलेण्डर के अनुसार 7 नवम्बर को) रूस की सोवियत समाजवादी क्रान्ति या अक्टूबर क्रान्ति की 91वीं वर्षगाँठ है। दुनिया अक्टूबर क्रान्ति की शताब्दी की अन्तिम दशाब्दी में प्रवेश कर रही है। यानी विश्व इतिहास की पहली समाजवादी क्रान्ति को अभी सौ साल भी पूरे नहीं हुए हैं, उसकी पराजय (1956 में ख्रुश्चेव के नेतृत्व में सोवियत संघ में पूँजीवादी पुनर्स्थापना के समय से जोड़कर) के बाद अभी लगभग आधी शताब्दी का समय बीता है और उस क्रान्ति की परम्परा को आगे बढ़ाने वाली चीन की सर्वहारा क्रान्ति की पराजय (1976 में माओ त्से-तुङ की मृत्यु के बाद चीन में देङपन्थियों द्वारा शुरू की गयी पूँजीवादी पुनर्स्थापना के समय से जोड़कर) के बाद अभी करीब तीन दशकों का समय ही बीता है। लेकिन धरती की सतह के नीचे से, सोयी हुई सर्वहारा क्रान्ति की हलचलें फिर से महसूस होने लगी हैं। पूँजीवाद के अमरत्व के सारे नुस्ख़े नीमहकीमी साबित हुए हैं। जिसे पूँजीवाद ने चमत्कारी पुनर्नवा रस समझा था वह बोका का बदबूदार अर्क़ निकला। अमेरिका से शुरू हुई मन्दी अब न केवल विश्वव्यापी होकर 1930 के दशक की महामन्दी और महाध्वंस के बाद के सबसे बड़े आर्थिक संकट का रूप ले चुकी है, बल्कि अर्थव्यवस्था के कारगर पुनर्गठन का कोई विकल्प भी सामने मौजूद नहीं दीख रहा है। जो लोग पूँजीवाद के अमरत्व के दावे करते हुए समाजवाद को भंगुर और अव्यावहारिक बता रहे थे, वे पूँजीवाद को दुश्चक्र से निकलने की कोई राह नहीं सुझा पा रहे हैं।

मौजूदा विश्वव्यापी वित्तीय संकट ने उस सर्वहारा क्रान्ति के विज्ञान को एक बार फिर सही साबित किया है, जिसके आलोक में अक्टूबर क्रान्ति हुई थी। एक बार फिर यह सिद्ध हो गया है कि साम्राज्यवाद के आगे पूँजीवाद की कोई और अवस्था नहीं है और ऐतिहासिक कारणों से साम्राज्यवाद की आयु भले ही कुछ लम्बी हो गयी हो, लेकिन अब एक सामाजिक-आर्थिक संरचना और विश्व-व्यवस्था के रूप में पूँजीवाद के दीर्घजीवी होने की सम्भावना निश्शेष हो चुकी है। एक बार फिर यह स्थापना वस्तुगत यथार्थ के रूप में उभरकर सामने आने लगी है कि साम्राज्यवाद की अवस्था सर्वहारा क्रान्तियों की पूर्वबेला है।

•

वर्तमान विश्वव्यापी मन्दी और आर्थिक तबाही के बारे में, एकदम सरल और सीधे-सादे ढंग से यदि पूरी बात को समझने की कोशिश की जाये, तो यह कहा जा सकता है कि अन्तहीन मुनाफ़े की अन्धी हवस में बेतहाशा भागती बेलगाम वित्तीय पूँजी अन्ततः बन्द गली की आख़िरी दीवार से जा टकरायी है। एकबारगी सब कुछ बिखर गया है। पूँजीवादी वित्त और उत्पादन की दुनिया में अराजकता फैल गयी है। कोई इस विश्वव्यापी मन्दी को "वित्तीय सुनामी" कह रहा है तो कोई "वित्तीय पर्ल हार्बर", और कोई इसकी तुलना वर्ल्ड ट्रेड टॉवर के ध्वंस से कर रहा है। दरअसल वित्तीय पूँजी का आन्तरिक तर्क काम ही इस प्रकार करता है कि निरुपाय संकट के मुक़ाम पर पहुँचकर वह आत्मघाती आतंकवादी के समान व्यवहार करते हुए विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की पूरी अट्टालिका में काफ़ी हद तक या पूरी तरह से ध्वंस करने वाला विस्फोट कर देती है।

हालाँकि इस पूरी स्थिति का विस्तृत विश्लेषण तो यहाँ सम्भव नहीं है, लेकिन संक्षेप में बात करते हुए भी बेहतर यही होगा कि, जैसाकि

(पेज 5 पर जारी)

पाँच राज्यों में विधानसभा चुनाव

नागनाथ और साँपनाथ में जीते चाहे कोई, हारेगी फिर जनता ही

बिगुल संवाददाता

छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश, राजस्थान, दिल्ली और जम्मू-कश्मीर में विधानसभा चुनावों का भोंपू बज चुका है। ये चुनाव एक रूप में आगामी लोकसभा चुनाव के पहले के शक्ति-प्रदर्शन और रिहर्सल भी हैं। ज़्यादातर जगहों पर नागनाथ (भाजपा) और साँपनाथ (कांग्रेस) के बीच इस बात को लेकर गलाकाटू होड़ मची है कि अगले पाँच साल तक सिंहासन पर बैठकर जनता को डसने और ख़ून चूसने का अधिकार कौन हासिल करेगा। सपा, बसपा और विभिन्न क्षेत्रीय दलों के रूप में भाँति-भाँति के शिकारी जानवर भी इस होड़ में लगे हुए हैं।

मतदाताओं को लुभाने के लिए हर पार्टी लुभावने नारे उछालने और कभी पूरे न होने वाले वायदे करने में एक-दूसरे को पछाड़ने में लगी हुई है। लेकिन कोई भी पार्टी आम मेहनतकश जनता की ज़िन्दगी से जुड़े महँगाई, रोज़गार, शिक्षा, स्वास्थ्य जैसे बुनियादी मुद्दों को नहीं उठा रही है। मेहनतकश जनता के शोषण और उत्पीड़न को दूर करने वाली नीतियों की कोई बात भी नहीं कर रहा। इसकी उम्मीद भी नहीं की जानी चाहिए। अब तो आम आदमी भी अच्छी तरह समझता है कि बुनियादी आर्थिक नीतियों के सवाल पर ये सभी चोर-चोर मौसेरे भाई हैं। देशी-विदेशी पूँजीपतियों को लूट की खुली छूट देने के सवाल पर ये सब एक हैं। राष्ट्रीय और क्षेत्रीय चुनावबाज पूँजीवादी पार्टियों के साथ ही लाल झण्डे का सौदा करने वाले नकली वामपन्थी भी इसी थैली के चट्टे-बट्टे हैं।

चुनाव नज़दीक आने के साथ ही वोटों का ध्रुवीकरण करने के लिए धर्म, जाति, भाषा और क्षेत्र के नाम पर लोगों की भावनाएँ भड़काने का गन्दा खेल एक बार फिर शुरू हो चुका है। सारे मुद्दे पिट जाने के बाद भाजपा ने आतंकवाद के सवाल को साम्प्रदायिक रंग देकर आक्रामक ढंग से उठाना शुरू किया था लेकिन मालेगाँव, नान्देड़ और सूरत सहित कई बम धमाकों में उससे और आर.एस.एस. से जुड़े संगठनों के कार्यकर्ताओं और नेताओं के नाम जैसे-जैसे सामने आते जा रहे हैं वैसे-वैसे इनकी बौखलाहट बढ़ती जा रही है। अपने स्थायी दोगले चरित्र के अनुरूप आचरण करते हुए पहले तो सारे भाजपा नेताओं ने साध्वी प्रज्ञा ठाकुर सहित पकड़े गये किसी भी हिन्दू आतंकवादी से अपना सम्बन्ध होने से ही इंकार कर दिया लेकिन जब इनकी कलई खुलने लगी तो अब पूरी ढिठाई के साथ उनके बचाव में उतर

(पेज 4 पर जारी)

भीतर के पन्नों पर

दिल्ली सरकार की लाड़ली योजना : *एक झुनझुना जो बजता भी नहीं* – पेज-2

नवउदारवादी अर्थनीति के 18 वर्ष : भारत की तरक्की के दावों की ढोल की पोल : समृद्धि के तलघर में नर्क का अँधेरा – पेज-8

बराक ओबामा : अमेरिकी साम्राज्यवाद का नया चेहरा, नयी ज़रूरत – पेज-10

अक्टूबर क्रान्ति के दिनों की वीरांगनाएँ – पेज-11

चोर, भ्रष्ट और विलासी नेताशाही : भारतीय पूँजीवादी जनतन्त्र की एक नंगी और गन्दी तस्वीर– पेज-12

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

गोदामों में सड़ता अनाज

देश के करोड़ों ग़रीब लोग रोज़ रात को भूखे पेट सोने पर मजबूर हैं, तो दूसरी तरफ़ लाखों टन अनाज भारतीय खाद्य निगम के गोदामों में सड़ जाता है। दिल्ली के एक निवासी ने सरकार से सूचना अधिकार क़ानून के तहत जानकारी प्राप्त की थी। इस जानकारी में बताया गया कि पिछले वर्ष जो अनाज सरकारी एजेन्सियों ने ख़रीदा था और अपनी देख-रेख में जिसका भण्डारण भी किया था उसमें से 10 लाख टन अनाज सड़ गया है। भारतीय खाद्य निगम ने 245 करोड़ रुपये अनाज के भण्डारण पर ख़र्च किये थे लेकिन फिर भी अनाज सड़ गया। इस खराब हुए अनाज को उठाने के लिए फिर 2.54 करोड़ रुपये ख़र्च किये गये!

निगम ने जो सूचना दी उससे पता चला कि 1997 से 2007 के बीच 1.83 लाख टन चावल, 22 हज़ार टन धान और 1200 टन मक्की का अनाज सड़ गया है। बाद में यह अनाज केन्द्र सरकार ने चारे के रूप में बेच दिया है। उत्तरी भारत यानी कि उत्तर प्रदेश, हरियाणा, जम्मू कश्मीर, पंजाब, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश और दिल्ली में पिछले वर्ष 7 लाख टन अनाज सड़ गया था।

तस्वीर का दूसरा पहलू यह है कि देश के 63 फ़ीसदी बच्चे भूखे पेट सोते हैं (संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट)। एक नामचीन अर्थशास्त्री के मुताबिक़ देश के 35 करोड़ लोग भूखे सोते हैं। यह वर्तमान भारत की एक दर्दनाक तस्वीर है जो देश के पूँजीवादी प्रबन्ध के चेहरे से हर नक़ाब उतार फेंकती है। यह तस्वीर हमें इस सच्चाई के बिल्कुल मानने ला खड़ा करती है कि आधुनिक भारत की खुशहाली की जो तस्वीरें भारत के हुक्मरान जनता के सामने पेश कर रहे हैं उनका आम जनता से दूर-दूर तक का कोई रिश्ता नहीं। आम मेहनतकश जनता को तो दो वक़्त की पेट भर रोटी भी नहीं मिल पाती और दूसरी ओर उनके हिस्से का अनाज गोदामों में पड़ा सड़ता रहता है। जिसे या तो समुद्र में फेंक दिया जाता है या फिर पशुओं के चारे के लिए इस्तेमाल कर लिया जाता है। जब सारी धन-दौलत मुट्ठीभर अमीरों के पास इकट्ठी हो चुकी हो तब देश के बहुसंख्यक लोगों के पास इतना पैसा बचता ही नहीं कि वे पेट भरने के लिए अनाज ख़रीद सकें। एक सरकारी आँकड़े के अनुसार दो के लगभग 82 करोड़ लोगों का गुज़ारा रोज़ाना महज़ 20 रुपये प्रति व्यक्ति के हिसाब से होता है। यह तो औसत है। नीचे की ओर जाते हुए हालत और भी भयंकर नज़र आती है।

ऐसी है यह पूँजीवादी व्यवस्था जहाँ एक ओर तो अनाज गोदामों में पड़ा-पड़ा सड़ता रहे और दूसरी तरफ़ लोगों को दो वक़्त की रोटी भी नहीं मिल सके। क्या इसी व्यवस्था के लिए भगतसिंह और उनके साथी क्रान्तिकारियों ने अपना जीवन कुर्बान किया था?

– राजविन्दर

दिल्ली सरकार की लाड़ली योजना: *एक झुनझुना जो बजता भी नहीं*

हाल ही में जब दिल्ली की मुख्यमन्त्री शीला दीक्षित ने लाड़ली योजना लागू की थी तो तमाम बुर्जुआ टीकाकारों ने इस पर काफ़ी झाल-कीर्तन किया था। कांग्रेस सरकार का समर्थन करने वालों ने अपनी सरकार के काफ़ी कसीदे पढ़े थे और इससे आम मेहनतकश वर्ग के भीतर भी एक भ्रम पैदा हुआ था। स्त्रीवादियों ने भी इसका बड़ा समर्थन किया क्योंकि इस योजना का एक लक्ष्य था दिल्ली में गिरते लिंग अनुपात को भौतिक प्रोत्साहन देकर सही करना। सत्ता कुछ तथाकथित कल्याणकारी नीतियाँ लागू करके बीच-बीच में आम जनता के बीच में एक विभ्रम की स्थिति पैदा करती रहती है। ऐसी ही एक नीति थी लाड़ली योजना। इस योजना के तहत सरकार 1 जनवरी 2008 के बाद पैदा होने वाली हर बच्ची के माता-पिता को 11,000 रुपये देगी, यदि उन्होंने एक वर्ष के भीतर योजना के लिए आवेदन किया हो तो। इसके अतिरिक्त, उस बच्ची के पहली, छठी, नौवीं और बारहवीं कक्षा में दाख़िले पर उसके खाते में पाँच हज़ार रुपये डाले जायेंगे जो उसे 18 वर्ष का होने पर मिल जायेंगे। इस योजना के लिए केवल वे माता-पिता आवेदन कर सकते हैं जिनकी वार्षिक आय एक लाख से कम होगी।

अब देखने में तो यह योजना दुरुस्त लगती है लेकिन इसपर कई सवाल दिमाग में आते हैं। पहली बात यह कि लड़कियों के प्रति भेदभाव और कन्या भ्रूण हत्या को ऐसा प्रोत्साहन देकर रोक पाना मुश्किल है। कारण यह है कि तमाम स्वयंसेवी संगठनों की रिपोर्ट बताती है कि कन्या भ्रूण हत्या के मामले ग़रीबों और मज़दूरों के बीच सबसे कम और व्यापारियों और अपना व्यवसाय करने वाले निम्न मध्यम वर्ग के बीच सबसे ज़्यादा होती है। मज़दूरों के बीच ऐसी योजना से लिंग अनुपात में कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं आने वाला है। दूसरी बात यह है कि एक पूँजीवादी समाज में स्त्रियों की स्थिति को पैसे का लालच दिखाकर और उपदेशों से नहीं सुधारा जा सकता है। जब तक समाज में वर्ग अन्तरविरोध मौजूद रहेगा, जब पूँजीवादी व्यवस्था रहेगी तब तक स्त्रियों के प्रति भेदभाव का नज़रिया भी क़ायम रहेगा।

दूसरा बड़ा सवाल इस योजना के हश्र पर है। सभी कल्याणकारी योजनाओं की तरह यह योजना भी औंधे मुँह गिर पड़ी है। नौकरशाहों और क्लर्कों की तो इससे बल्ले-बल्ले हो गयी है लेकिन इस योजना का लाभ नीचे ग़रीबों तक नहीं पहुँच पाया है। आँकड़ों के मुताबिक़ सितम्बर तक इस योजना के लिए दिल्ली में 87,470 आवेदन आये थे। इनमें से अभी तक केवल 2595 लड़कियों को इस योजना का लाभ मिला है। इसका कारण यह है कि आवेदन पत्रों की जाँच का काम ही सरकार नहीं कर पा रही है। दरअसल सरकार का मकसद इस योजना को ईमानदारी के साथ लागू करना है ही नहीं। सच तो यह है कि दिल्ली विधानसभा के चुनाव 2009 में होने वाले हैं जिनको निगाह में रखकर दिल्ली सरकार तमाम योजनाएँ अफरा-तफरी में लागू कर रही हैं। मिसाल के तौर पर 1500 अनियमित कालोनियों के नियमितीकरण के प्रमाणपत्र दिल्ली सरकार ने अचानक इन कालोनियों को सौंप कर वाहवाही बटोरने की कोशिश की है। हालाँकि इससे इन कालोनियों की स्थिति में कोई फ़र्क़ नहीं आने वाला है। दूसरी ओर, इन प्रमाणपत्रों में भी झोल है जिसके कारण इन कालोनियों के विस्थापन न होने की भी कोई स्थायी गारण्टी नहीं है।

लाड़ली योजना की भी यही कहानी है। इस योजना से कांग्रेस के स्थानीय नेता और मन्त्री अपने लग्गुओं-भग्गुओं को लाभान्वित करने का काम हमेशा की तरह कर ही रहे हैं। न तो सभी आवेदनकर्ताओं को इस योजना का कोई लाभ मिलने वाला था और न ही मिलेगा। दूसरी बात यह है कि इस योजना का लाभ प्राप्त करने के लिए इतनी लम्बी, ख़र्चीली और उबाऊ प्रक्रिया है कि कोई मज़दूर पहले ही थककर बैठ जायेगा; ये एफिडेविट बनवाओ, वह प्रमाणपत्र बनवाओ, यहाँ जाओ, वहाँ जाओ! हर सरकारी योजना की तरह यह मेहनतकशों को बेवकूफ़ बनाकर वोट बटोरने के लिए कांग्रेस की सरकार की एक चाल है। 1 लाख लोग आवेदन करते हैं तो 3 हज़ार को लाभ मिलता है। उसमें भी चाचा-भतीजावाद का बोलबाला है। यही हो ही सकता था। भागीदारी नामक सरकारी योजना का भी यही हश्र हुआ है जिसमें 1.68 करोड़ रुपये कांग्रेस की सरकार ने लंच और डिनर पार्टियों में ख़र्च कर दिये।

मज़दूर वर्ग को यह समझ लेना चाहिए कि ऐसी कल्याणकारी योजनाओं की धुन्ध में नहीं फँसना होगा और इस सरकार और व्यवस्था की असलियत को समझना होगा। भाजपा ने इन योजनाओं की असफलता पर पर्याप्त शोर मचाया है क्योंकि वह चुनावों में जीतकर दिल्ली में अपनी सरकार बनाना चाहती है। वह भूल जाती है कि उसके शासनकाल में भी अनियमित कालोनियों के साथ धोखाधड़ी की गयी थी और तमाम तथाकथित कल्याणकारी योजनाओं का ऐसा ही हश्र हुआ था। सवाल कांग्रेस-भाजपा का है ही नहीं। सवाल है पूरी व्यवस्था का जिसके पैरोकार तमाम चुनावी पार्टियों के लोग हैं और जो ऐसी छल भरी योजनाओं से जनता को ठगने का काम करते रहते हैं। समय रहते इस कल्याणकारी मुखौटे की असलियत समझ लेने की ज़रूरत है।

– शिशिर

मेहनतकश साथियो! नौजवान दोस्तो!
सोचो!
58 सालों तक
चुनावी मदारियों से
उम्मीदें पालने के बजाय
यदि हमने इंकलाब की राह
चुनी होती
तो भगत सिंह के सपनों का भारत
आज एक हकीकत होता।

आपस की बात

उम्मीद जगाता है बिगुल

मैं 3 साल पहले जब दिल्ली मजदूरी करने आया था तो मालिकों और ठेकेदारों के शोषण से पूरी तरह टूट चुका था। विरोध में आवाज उठाने की इच्छा होती थी लेकिन अकेले मजदूर की आवाज कौन सुनता? मजदूर साथियों को जुटाने की कोशिश भी लेकिन एक तो 14-14 घण्टे काम करने के बाद समय नहीं मिलता दूसरे डर भी है। आपस में फूट भी है। मैं तो निराश हो चला था लेकिन जब 'बिगुल' अखबार पढ़ना शुरू किया तो समझ में आया कि मजदूरों को संगठित करने का रास्ता कठिन और लम्बा है लेकिन असम्भव नहीं। 'बिगुल' मेरे जैसे मजदूरों के अन्दर उम्मीद जगाने का काम करता है। मजदूरों को उम्मीद की जरूरत है। बिगुल मजदूर संघर्षों के इतिहास के बारे में भी बताता है और आगे बढ़ने की सही राह भी दिखाता है।

– राजेन्द्र, नोएडा

संसद-विधानसभाएँ बहसबाजों के अड्डे हैं
ये पूँजीवादी राज्यसत्ता के दिखाने के दाँत हैं
असली दाँत हैं - पुलिस, फौज और जेल।
कोर्ट-कचहरी, कानून और अफ़सरशाही
इसके जबड़े और पंजे हैं।
चुनावी राजनीति के मायाजाल से बाहर आओ!
क्रान्तिकारी राजनीति की अलख जगाओ!!

बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'बिगुल' मज दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाजों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की कतारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'बिगुल' मज दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	:	**69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006**
सम्पादकीय उपकार्यालय	:	**जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ**
दिल्ली सम्पर्क	:	**बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर दिल्ली-94 फोन : 011-65976788**
ईमेल	:	bigul@rediffmail.com

मूल्य : एक प्रति-रु. 3/- वार्षिक-रु. 40.00 (डाक खर्च सहित)

बिगुल

'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध :

1. **डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**
2. **जनचेतना स्टाल, काफी हाउस बिल्डिंग, हजरतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे तक)**
3. **जाफरा बाजार, गोरखपुर-273001**
4. **जनचेतना सचल स्टाल (ठेला) चौड़ा मोड़, नोएडा (शाम 5 से 8)**

बजाज संस : लुधियाना के मज़दूर संघर्ष की राह पर

लुधियाना में बजाज संस लिमिटेड की पाँच यूनिटें हैं। इस रिपोर्ट में हम इस बारे में बतायेंगे कि किन स्थितियों में बजाज संस के मज़दूरों ने संघर्ष का रास्ता चुना और थोड़ी-बहुत सफलताएँ भी हासिल कीं। इस कारख़ाने के मज़दूरों ने एकता की ताक़त को पहचाना है। यहाँ के मज़दूरों में संघर्ष करके अपने हक़ों को हासिल करने की जो चेतना आयी है उससे काफ़ी कुछ सीखा जा सकता है।

बजाज संस में यूनियन 2005 में उस वक़्त बनी जब हीरो सायकिल, रालसन, रॉकमैन, हाईवे, एवन, के. डब्ल्यू. सायकिल फ़ैक्ट्रियों में मज़दूरों का आन्दोलन उभार पर था। सायकिल उद्योग के मज़दूरों के आन्दोलित होने से प्रेरणा पाकर बजाज संस के भी मज़दूर अपने हक़ों की लड़ाई लड़ने के लिए मैदान में आये। बजाज संस और अन्य कारख़ानों के मज़दूर आन्दोलन करने को क्यों बाध्य हुए यह समझने के लिए बहुत गहरे जाने की आवश्यकता नहीं।

भयंकर लूट से मुक्ति पाने और अपने जीवन की परिस्थितियों में सुधार लाने के लिए मज़दूरों को मजबूर होकर यूनियनें बनानी पड़ीं। 2005 में हीरो सायकिल, रालसन, रॉकमैन, हाईवे, एवन, के-डब्ल्यू सायकिल इण्डस्ट्री की फ़ैक्ट्रियों अलावा निक्स इण्डिया और बजाज संस आटो पार्ट्स की फ़ैक्ट्रियों में भी यूनियनें बनीं और हड़तालों के जरिये संघर्ष शुरू हो गया। बजाज संस के मज़दूर यूनियन बनाने के लिए क्यों बाध्य हुए आइये उन्हीं के मुँह से सुनते हैं। इस कारख़ाने के एक मज़दूर ने बताया कि 2008 में जब वह इस कारख़ाने में काम पर लगा तो उसे आठ घण्टे काम के सिर्फ़ 1350 रुपये मिलते थे। जो मज़दूर पिछले पाँच-छह वर्षों से काम कर रहे थे उनका वेतन भी लगभग इतना ही था। दो पालियों में काम चलता था जिसमें से दिन की पाली 13 घण्टे और रात की 11 घण्टों की होती थी। ज़रूरत पड़ने पर छुट्टी के दिन भी बुला लिया जाता था। वैसे तो कम वेतन होने के कारण मज़दूर ओवरटाइम करने के लिए मजबूर थे पर अगर कोई ओवरटाइम नहीं भी करना चाहे तो उससे ज़बरदस्ती ओवरटाइम करवाया जाता था। सुपरवाइज़र अक्सर ही मज़दूरों की पिटाई करते रहते थे। कहने को तो कारख़ाने की तरफ़ से ही भर्ती थी लेकिन न तो पहचानपत्र और न ही पक्का हाज़िरी कार्ड और फ़ण्ड, ईएसआई कितनी कटती थी इसकी भी कोई जानकारी नहीं। चोट लगने पर प्राइवेट डॉक्टर के पास भेज दिया जाता था। कोई मुआवज़ा नहीं मिलता था। छुट्टी मुश्किल से ही मिलती थी। जब कोई वर्कर छुट्टी से वापस आता था तो उसे नये सिरे से भर्ती किया जाता था। पहले की सर्विस भी काट ली जाती थी। हस्ताक्षर तो ज़्यादा रक़म पर करवा लिये जाते थे लेकिन वेतन कम का दिया जाता था। अक्सर ही मज़दूर काम छोड़ने को मजबूर हो जाते थे। काम छोड़ने वाले मज़दूरों का काफ़ी पैसा दबा लिया जाता था।

यही वे हालात थे जिनमें 2005 के अन्त में बजाज संस ग्रुप के कारख़ानों के अन्दर मज़दूरों के आन्दोलन की शुरुआत हुई। कारख़ाने के अन्दर यूनियन बनी। मालिकों को जब इस बात की भनक लगी तो पाँच अगुआ लोगों को नौकरी से निकाल दिया गया, जिसके विरोध में पहली बार यूनियन के नेतृत्व में हड़ताल हुई। मज़दूरों के ज़बरदस्त गुस्से को भाँपते हुए यूनियन नेताओं को वापस काम पर रख लिया गया। संघर्ष के चलते पुराने मज़दूरों के वेतन में 250 रुपये की और नये मज़दूरों के वेतन में 200 रुपये की वृद्धि हुई। पहचानपत्र भी बना। इस सफलता से मज़दूरों का मनोबल बढ़ा और इससे उन्हें एकता की ताक़त का अहसास हुआ।

इसके बाद तो अक्सर ही मज़दूरों की माँग को लेकर यूनियन प्रबन्ध पर दबाव बनाने लगी। वेतन बढ़ाने और हाज़िरी कार्ड जैसी माँगों को लेकर अक्सर ही काम बन्द कर दिया जाता था। कुछ घण्टों के लिए काम बन्द करने से लेकर गेट जाम तक का सहारा लिया जाता था। बजाज संस के मालिक इतने भयभीत हो गये कि अगस्त 2006 में 12-13 हथियारबन्द सुरक्षा गार्डों को कारख़ाने की सुरक्षा में लगा दिया। लेकिन भला मज़दूर कहाँ डरने वाले थे। हालाँकि नेतृत्व में शामिल कुछ लोगों ने डर का इजहार किया पर शेष लोगों ने डरने से इन्कार करते हुए संघर्ष को आगे बढ़ाया। एकता की ताक़त से यूनियन ने वेतन में 400 रुपयों की वृद्धि और आगे चलकर हाज़िरी कार्ड की माँग मनवाने में सफलता प्राप्त की।

अगस्त 2007 में मालिकों ने यह कहते हुए ओवरटाइम लगवाना बन्द कर दिया कि मन्दी है। मज़दूरों का गुज़ारा आठ घण्टे के वेतन में नहीं हो रहा था लिहाजा मजबूर होकर उन्होंने माँग की कि चार घण्टों ओवरटाइम ज़रूर लगवाया जाये। यहाँ पर मज़दूर निश्चित रूप से ग़लती कर रहे थे। कारण यह कि पूँजीपति मज़दूरों को हमेशा ही कम से कम वेतन देने कोशिश करता है ताकि वे अपना गुज़ारा चलाने के लिए ज़्यादा लम्बे समय तक काम करने का रास्ता खोजें। मज़दूरों को कारख़ाना मालिकों की चाल को सफल नहीं होने देना चाहिए और उन्हें आठ घण्टों के काम के लिए ही इतनी मज़दूरी माँगनी चाहिए कि ढंग से जीवन-निर्वाह हो सके। सही रास्ता यह होता है कि आठ घण्टे के काम के दिन को बनाये रखने और भरण-पोषण लायक मज़दूरी प्राप्त करने के लिए संघर्ष किया जाये।

1886 में अमेरिका के शहर शिकागो में शुरू हुए आन्दोलन को हमें याद करना चाहिए। उन मज़दूरों ने नारा दिया था, "आठ घण्टे काम, आठ घण्टे आराम और आठ घण्टे मनोरंजन।" उस वक्त मज़दूरों को बारह-बारह, पन्द्रह-पन्द्रह घण्टे घटना पड़ता था। उन्होंने आठ घण्टे के काम और पर्याप्त वेतन की माँग की। यह आन्दोलन पूरी दुनिया में फैला। मज़दूर आन्दोलनों से मजबूर होकर दुनियाभर की पूँजीवादी सरकारों को मज़दूरों के काम के समय के आठ घण्टे नियत करना पड़ा। आज जब हम देखते हैं कि मज़दूरों में एकता नहीं होने के कारण यह क़ानून प्रभावी नहीं रह गया है तो यह सोचे बिना नहीं रह पाते कि इसे अमल में लाने के लिए हमें फिर से लड़ाई लड़नी होगी। "आठ घण्टे काम, आठ घण्टे आराम और आठ घण्टे मनोरंजन" का नारा फिर से प्रासंगिक हो उठा है। आठ घण्टे काम के लिए इतना वेतन मिले कि हम इंसानों की तरह जी सकें, इसके लिए लड़ाई आज मज़दूर आन्दोलन का महत्त्वपूर्ण कार्यभार बन चुकी है और हमें अपने तईं यह बात समझ लेनी होगी। बजाज संस के मज़दूरों ने चार घण्टे ओवरटाइम लगवाये जाने की ज़िद करके यक़ीनन ग़लती की थी। नेतृत्व के साथियों में से कुछ लोग इस ग़लती को समझते भी थे। आम मज़दूरों और नेतृत्व कर रहे मज़दूरों के बीच इस बात को लेकर काफ़ी विवाद हुआ।

मालिकों ने सोचा यही समय है कि यूनियन को हमले को निशाना बनाया जाये। 102 मज़दूरों को नौकरी से निकाल दिया गया जिनमें नेतृत्व देने वाले कई मज़दूर भी शामिल थे। पर सन्तोष की बात यह थी कि मज़दूर यूनियन के साथ डटकर खड़े रहे। 20 जुलाई को पाँचों यूनिटों के लगभग सभी मज़दूरों ने काम बन्द कर दिया। हड़ताल ख़त्म होने पर निकाले गये मज़दूरों में से सिर्फ़ 30 लोगों को काम पर वापस रखा गया। शेष सभी लोगों को बाहर का रास्ता दिखा दिया गया।

इस समय तक यूनियन काफ़ी कमजोर स्थिति में आ गयी थी। मालिकों ने यूनियन नेताओं को ख़रीदना शुरू कर दिया और अपने इस प्रयास में वे काफ़ी हद तक सफल भी रहे। यूनियन फ़ण्ड का पैसा लेकर कुछ लोग भाग गये। निकाले गये 70 लोगों का लेबर कोर्ट में केस चल रहा था, उनमें से कई बहकावे में आकर हिसाब ले गये।

2008 की शुरुआत में मालिकों ने सोचा कि अब यूनियन ख़त्म कर दी गयी है तो मैनेजमेण्ट ने अपना रंग दिखाना शुरू कर दिया। जनवरी में एक मज़दूर को पीटा गया। इस पर मज़दूरों ने भी स्टाफ़ के पाँच लोगों को बुरी तरह पीटा। मज़दूरों को झूठे मामलों में फंसाया गया और कई मज़दूरों को जेल जाना पड़ा। इस दौरान पाँच दिन तक फ़ैक्ट्रियाँ बन्द रहीं। इस घटना के बाद मालिक घबड़ा गये। उन्होंने सुरक्षा के नाम पर गुण्डे भर्ती किये। मज़दूरों को डराया-धमकाया जाने लगा।

7 अप्रैल को यूनियन के नेता बलराम पर सोते वक्त मालिक के गुण्डों ने हमला कर दिया। यह कार्रवाई नेतृत्व की कमान थामे मज़दूरों को भयभीत करने के लिए की गयी थी। मज़दूर चाह रहे थे कि मालिकों की इस बदमाशी का जवाब पुरजोर तरीके से दिया जाये लेकिन पता नहीं क्यों यूनियन ने कोई संघर्ष नहीं किया। इससे मज़दूरों में निराशा का आलम है। इसके बाद यूनियन के कुछ नेताओं ने मालिकों के साथ बैठकर 30 प्रतिशत प्रोडक्शन बढ़ा देने पर 400 रुपये वेतन वृद्धि का समझौता भी कर लिया। उत्पादन बढ़ाने के इस समझौते को लेकर भी मज़दूर काफ़ी नाराज़ हैं।

यूनियन इस समय काफ़ी कमजोर स्थिति में है जिससे मालिकों के हौसले

(पेज 8 पर जारी)

लुधियाना की मज़दूर बस्तियों पर डेंगू का कहर

– बिगुल संवाददाता

पिछले कई महीनों से डेंगू की बीमारी लुधियाना की ग़रीब आबादी के ऊपर कहर बरपा कर रही थी। हजारों लोग इस बीमारी की चपेट में आये और दर्जनों मौतें हुईं। हालत इतनी भयंकर थी कि सभी अस्पतालों के पास बिस्तर कम पड़ रहे थे। स्ट्रेचरों, ट्रालियों और इधर-उधर फ़र्श पर चटाइयाँ बिछाकर मरीजों का इलाज किया गया। अधिकतर लोगों के पास इतना पैसा ही नहीं था कि अस्पताल में दाख़िल होने की सोच भी सकें। परिवार के परिवार डेंगू से पीड़ित होकर बीमार पड़े थे।

असल में हर साल ही अगस्त से लेकर अक्टूबर तक डेंगू एवं वायरल बुखार फैलाने वाला एडीज मच्छर ग़रीब आबादी पर क़हर बनकर टूटता है। अगर नगर निगम, प्रशासन और स्वास्थ्य विभाग थोड़ा संवेदनशील होता तो लोगों को डेंगू की चपेट में आने से बचाया जा सकता है। अगर सेहत विभाग के आला अफ़सरों, बोर्ड के पार्षदों और मेयर आदि को लोगों की ज़िन्दगी की ज़रा-सी भी चिन्ता होती तो मच्छरों से निजात के लिए पहले से ही मुहित छेड़ते। ग़रीब बस्तियों में घर-घर डीडीटी का छिड़काव करवाते, फोगिंग मशीनों का इन्तज़ाम करके हर गली-मोहल्ले में फोगिंग करवाते। इसके विपरीत देखने में यह आया कि जब डेंगू ने विकराल रूप धारण कर लिया और अख़बारों में इस बाबत ख़बरें छपीं तब जाकर कबाड़ हो रही आठ फोगिंग मशीनों की मरम्मत करवायी गयी और दो-तीन नयी मशीनें मँगवाकर कुछेक मुहल्लों में फोगिंग करने की रस्म अदागयी पूरी की गयी।

ऐसा नहीं है कि डेंगू सिर्फ़ ग़रीबों के रिहायशी क्षेत्रों में फैला था, मध्यवर्गीय आबादी भी डेंगू की चपेट में आयी थी लेकिन उसे इससे ख़ास परेशानी का सामना नहीं करना पड़ा क्योंकि प्रशासन ने ऐसे इलाक़ों में डेंगू से बचाव के लिए प्रबन्ध ज़ोर-ज़ोर से किये। इस आबादी के पास इतना पैसा और समय होता है कि वह अपना इलाज करवा सके। लेकिन मज़दूर बस्तियों में रहने वाले दर्जनों लोगों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा। डेंगू की चपेट में यही लोग अधिक आये। इसका कारण यह था कि एक तो ग़रीबी के चलते मज़दूर आबादी कुपोषण का शिकार रहती है, दूसरे उसके पास इतना पैसा भी नहीं होता कि वह बीमार पड़ने पर दवा-दारू करा सके और पौष्टिक भोजन का इन्तज़ाम कर सके। उन्हें बीमारी में भी काम पर जाना पड़ता है क्योंकि अगर काम पर नहीं जायेंगे तो घर में चूल्हा नहीं जलेगा। काम पर इसलिए भी जाना पड़ता है कि मालिक उन्हें हटाकर किसी और को काम पर रख लेगा।

शहर जल रहा है और नीरो बंसी बजा रहा है

अपना छोटा-मोटा धन्धा करके गुज़ारा चलाने वालों के साथ भी यही होता है जिसके चलते वे आराम नहीं कर पाते और होता यह है कि बीमारी बढ़ जाती है। इस तरह से जानलेवा नहीं मानी जाने वाली डेंगू की बीमारी ग़रीब-मज़दूर आबादी के लिए जानलेवा बन जाती है।

मुसीबत भरी इस हालत में लालची क़िस्म के डॉक्टरों ने जनता के अज्ञान का खूब फायदा उठाया। ज़रूरत तो इस बात की थी कि डॉक्टर भाईचार दिखाते हुए अपनी योग्यता और ज्ञान का प्रयोग मज़दूरों को रोगमुक्त करने के लिए करता और उन्हें डेंगू/वायरल बुखार से बचने के उपाय बताता। लेकिन कफ़नखसोट लालची डॉक्टरों ने ग़रीबों के सस्ते इलाज का कोई उपाय नहीं किया और इसके उलट पैसा बटोरने में लगे रहे। अस्पताल में उन मरीजों को ही दाख़िल करवाने की ज़रूरत होती है जिनकी प्लेटलेट कोशिकाएँ 50 हज़ार से कम हो जायें। जिन मरीजों की प्लेटलेट्स 50 हज़ार से अधिक होती है उन्हें ओपीडी से दवा देकर घर भेज दिया जाता है, भर्ती करने की ज़रूरत नहीं होती। लेकिन निजी प्रैक्टिस करने वाले डॉक्टरों ने सभी मरीजों को भर्ती किया और उन्हें जमकर निचोड़ा।

पंजाब सरकार ने घोषणा तो यह की थी कि डेंगू के मरीजों का निःशुल्क उपचार किया जायेगा लेकिन यह घोषणा सिर्फ़ घोषणा ही बनी रही उसे अमल में नहीं लाया गया। कहना न होगा कि सरकार चाहे केन्द्र की हो या राज्य की वे सब की सब पूँजीपतियों की सेवा में ही लगी रहती हैं। ग़रीबों की बदहाली में ही हुक्मरानों की खुशी छुपी रहती है। प्रशासन और कार्पोरेशन में बैठे अधिकारी व नेता भी आख़िर में तो पूँजीपति वर्ग के ही होते हैं उन्हें मेहनतकशों के दुख-दर्द से क्या लेना-देना। ग़रीबों की बस्तियों में किसी भी प्रकार की जन-सुविधाएँ नहीं होतीं। पीने के लिए रोज़ाना साफ़ पानी नहीं मिलता, जल-मल निकासी की समुचित व्यवस्था नहीं होती, चारों तरफ़ गन्दगी के ढेर लगे होते हैं जिससे हर साल हैजा, डेंगू और वायरल बुखार जैसी बीमारियों का प्रकोप होता रहता है।

ग़रीब बस्तियों में रहने वाले अब अपने अनुभवों से सीखते जा रहे हैं कि चुनावबाज़ पार्टियों से उनका कुछ भी भला होने वाला नहीं। मेहनतकशों की आपसी एकता ही प्रशासन को इस बात के लिए मजबूर कर सकती है कि वह लोगों को बीमारी से बचाने के लिए पुख़्ता प्रबन्ध करे।

डेंगू के मसले पर लुधियाना प्रशासन के ख़िलाफ़ धरना-प्रदर्शन

17 अक्टूबर 2008 को लुधियाना के डीसी दफ़्तर पर कई जन संगठनों ने धरना-प्रदर्शन किया। इस मौक़े पर डीसी को सौंपे गये माँग पत्र में निम्नलिखित माँगें शामिल थीं -

1. डेंगू तथा वायरल बुखार के सभी मरीजों के मुफ़्त इलाज की गारन्टी प्रदान की जाये।
2. शहरभर में ख़ासकर मज़दूर बस्तियों में डीडीटी के छिड़काव और फोगिंग का पूरा प्रबन्ध किया जाये।
3. डेंगू से मरे मरीजों के परिवारों को समुचित मुआवज़ा दिया जाये।
4. मज़दूर बस्तियों में स्वच्छ पेयजल, जल-मल की निकासी की व्यवस्था करायी जाये और चिकित्सा सुविधाएँ मुहैया करायी जायें।
5. बढ़ी हुई आबादी के हिसाब से सरकारी अस्पताल/डिस्पेंसरियाँ खोली जायें।

इस धरना प्रदर्शन में कारख़ाना मज़दूर यूनियन, लुधियाना, नौजवाना भारत सभा, मोल्डर एण्ड स्टील वकर्स की दोनों यूनियनों, लोक एकता संगठन, पंजाब रोडवेज एम्प्लायीज़ यूनियन (आज़ाद), महासभा लुधियाना, प्राइवेट मेडिकल प्रैक्टिसनर एसोसिएशन और डेमोक्रेटिक टीचर्स फ़्रण्ट आदि जनसंगठनों ने भागीदारी की।

नागनाथ और साँपनाथ में जीते चाहे कोई, हारेगी फिर जनता ही

चुनावी राजनीति के मायाजाल से बाहर आओ – नयी मज़दूर क्रान्ति की राह पर क़दम बढ़ाओ!

(पेज 1 से आगे)

आये हैं। कांग्रेस हमेशा की तरह कभी नरम हिन्दू कार्ड खेलने की कोशिश कर रही है तो कभी हिन्दू आतंकवादियों के पकड़े जाने को भुनाने की कोशिश कर रही है। महाराष्ट्र में राज ठाकरे की गुण्डागर्दी कांग्रेस की खुली शह पर ही जारी है। भावनाएँ भड़काने और जातीय-धार्मिक समीकरणों के गुणा-भाग के अलावा ये पार्टियाँ और कुछ कर भी नहीं सकती हैं। जनता को देने के लिए किसी के पास कुछ भी नहीं है।

दिल्ली की शीला दीक्षित सरकार दस साल की "उपलब्धियों" के नाम पर फिर से वोट माँग रही है। इन दस सालों में दिल्ली में नेता-अफ़सर-बिल्डर-ठेकेदार-दलाल गँठजोड़ को जनता की गाढ़ी कमाई को दोनों हाथों से बटोरने की खुली छूट मिली है। राजधानी के हज़ारों छोटे-बड़े कारख़ानों में काम कर रहे लाखों मज़दूरों के ख़ून-पसीने की एक-एक बूँद निचोड़ लेने और रहे-सहे श्रम क़ानूनों को भी ताक पर रखकर दोनों हाथों से मुनाफ़ा बटोरने वाले उद्योगपतियों को नयी-नयी रियायतें दी जाती रही हैं। लगातार बेरहमी के साथ झुग्गी बस्तियों पर बुलडोजर चलवाकर लाखों ग़रीबों को बेकार करने वाली सरकार अब चुनाव सामने देखकर अवैध कालोनियों को नियमित करने जैसे शगूफ़े छोड़ रही है। रोशनी से जगमगाते मॉलों, एसी बसों और सड़कों पर दौड़ती विदेशी गाड़ियों वाली जिस दिल्ली के लिए अपनी उपलब्धियों का मुख्यमंत्री बखान कर रही हैं उस दिल्ली में कारख़ानों में दो-दो हज़ार की दिहाड़ी पर 12-14 घण्टे खटने वाले लाखों मज़दूरों और नरक से बदतर बस्तियों में रहने वाली पचास लाख से अधिक आबादी के लिए कोई जगह नहीं है। राजधानी में चारों ओर चल रहे निर्माण कार्यों में होने वाली दुर्घटनाओं में हर माह मरने वाले 200 से ज़्यादा मज़दूर और ग़रीब बस्तियों में डेंगू-मलेरिया से मरते बच्चे इस दिल्ली की ऐयाशियों में कोई खलल नहीं डाल सकते।

शीला सरकार की मुख्य प्रतिस्पर्धी के रूप में भाजपा आज चिल्ला-चिल्लाकर महँगाई और भ्रष्टाचार की दुहाई दे रही है लेकिन इससे पहले भाजपा के दस साल के राज में महँगाई और लूट-खसोट का जो खुला खेल फ़र्रुख़ाबादी चला था उसे क्या भुलाया जा सकता है?

छत्तीसगढ़ की रमन सिंह सरकार देशी-विदेशी पूँजीपतियों की सेवा करने में जुटी हुई है और राज्य की जनता पर तबाही का कहर बरपा कर रही है। यूँ तो अलग राज्य बनने के पहले से ही और कांग्रेसी शासन के जमाने से ही पूँजी की मार से अपनी जगह-जमीन से दरबदर होते छत्तीसगढ़ के आम लोग विस्थापित होकर पूरे उत्तर भारत के ईंट-भट्ठों और भवन-निर्माण उद्योग में काम करने के लिए जाते रहे हैं। पर रमन सरकार के शासनकाल के दौरान इस विस्थापन की दर में भारी बढ़ोत्तरी हुई है। स्पंज आयरन के कारख़ाने छत्तीसगढ़ के एक बड़े हिस्से में खेती और पर्यावरण को तबाह कर रहे हैं। शिवनाथ, खारून, केलो, कुरकुट, सबरी, डंकनी, शंखनी आदि नदियों को कारख़ानों में पानी के मनमाने इस्तेमाल और अवशिष्ट प्रवाहित करने के लिए सीधे पूँजीपतियों को सौंप दिया गया है।

साम्राज्यवादी डाकुओं की बढ़ती लूट,
देशी सरमायेदारों की फूलती थैलियां,
मेहनतकशों की बढ़ती तबाही,
बेरोजगारी, आसमान छूती मंहगाई,
छंटनी-तालाबंदी, तबाही-बर्बादी,
काले कानून, लाठी-गोली का प्रजातंत्र,
बिकता न्याय,
अराजकता, लूटपाट, गुण्डागर्दी,
दलाली, कमीशनखोरी, भ्रष्टाचार,
मण्डल-कमण्डल, दंगे-फसाद,
भ्रष्ट सरकार, झूठी संसद, नपुंसक विरोध
इनसे निजात पाने की राह क्या है?
इलेक्शन या इंकलाब?

अब चुनाव नजदीक आने के बाद रमन सरकार कई लोकलुभावन वायदे कर रही है। ग़रीबों को तीन रुपये किलो चावल दिया जा रहा है। लेकिन महज चावल से ही ज़िन्दगी नहीं चलती। शिक्षा, दवा-इलाज और सभी बुनियादी ज़रूरत की चीज़ें महँगाई के चलते आम लोगों की पहुँच से दूर होती जा रही है। चुनाव बीतते ही मन्दी की मार अपना असली रंग दिखायेगी, छँटनी की तलवार अन्धाधुन्ध चलेगी और कीमतें आसमान छूने लगेंगी। छत्तीसगढ़ में जिस "विकास" और "सुशासन" के दावे किये जा रहे हैं उसकी असलियत यह है कि सिर्फ 2006 में राज्य में कुल 4,626 लोगों ने आत्महत्या की जिसमें 1,483 किसान थे।

मुख्य विरोधी दल कांग्रेस भाजपा के कुशासन पर शोर मचा रही है लेकिन अजीत जोगी के शासन काल में भ्रष्ट मंत्रियों की अँधेरगर्दी, बेलगाम निरंकुश नौकरशाही और ठेकेदारों-माफिया सरदारों के गुण्डाराज को जनता अभी भूली नहीं है। यह याद रखना भी जरूरी है कि लाखों आदिवासियों पर मुश्किलों का कहर बरपा करने वाले जिस कुख्यात सलवा जुडुम को भाजपा ने परवान चढ़ाया उसकी शुरुआत कांग्रेसी नेता महेन्द्र कर्मा ने की थी। उदारीकरण-निजीकरण की जिन नीतियों को रमन सिंह सरकार जोर-शोर से लागू कर रही है, उन्हें कांग्रेस ने ही शुरू किया था और आज भी केन्द्र में वही उन्हें आगे बढ़ा रही है। आर्थिक नीतियों के प्रश्न पर न केवल कांग्रेस और भाजपा, बल्कि सभी पूँजीवादी दलों में कोई मतभेद नहीं है। चुनावी वामपन्थी ठग भी इन्हीं नीतियों के हिमायती हैं, बस वे उन्हें "मानवीय चेहरा" दे देना चाहते हैं (हालाँकि वह चेहरा कितना "मानवीय" होगा इसकी बानगी वे नन्दीग्राम में पेश कर चुके हैं)।

मध्यप्रदेश में पाँच साल पहले कांग्रेस की दिग्विजय सिंह सरकार के भ्रष्टाचार और नाकारेपन से त्रस्त जनता को बड़े-बड़े वायदे करके सत्ता में आयी भाजपा सरकार के शासन में आम जनता की हालत बद से बदतर होती गया है। शिवपुरी ज़िले में चन्द महीनों के भीतर 132 बच्चों की कुपोषण से मौत हो या 3-4 साल से भयंकर सूखे और अकाल जैसे हालात का सामना कर रहे बुन्देलखण्ड क्षेत्र की जनता की तक़लीफ़ें हों - शिवराज सिंह चौहान की सरकार ने बयानबाज़ी करने के सिवा कुछ नहीं किया है। पाँच साल के दौरान भाजपा के नेता आपसी झगड़े निपटाने और गुजरात की तर्ज पर मध्यप्रदेश में खुली सरकारी मदद से हिन्दू कट्टरपन्थी संगठनों की कार्रवाइयों का जाल फैलाने में लगे रहे हैं। पिछले कुछ महीनों के दौरान राज्य के कई स्थानों पर हुए छोटे-बड़े दंगे इस बात के गवाह हैं कि इन संगठनों की कार्रवाइयाँ अपना रंग दिखा रही हैं। पूँजीपतियों को तरह-तरह की छूटों-रियायतों का तोहफ़ा देकर राज्य की प्राकृतिक सम्पदा और सस्ते श्रम को लूटने के लिए आमन्त्रित किया जा रहा है और दूसरी ओर मज़दूरों-किसानों के हर प्रकार के आन्दोलनों का बर्बरता से दमन किया जा रहा है। नागरिक अधिकारों का गला घोंटने में मध्यप्रदेश किसी राज्य से पीछे नहीं है। भगवा संगठनों की गुण्डागर्दी को राज्य में खुली छूट मिली हुई है। उज्जैन में प्रो. सभरवाल की सरेआम हत्या करने वाले अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद के नेताओं का राज्य सरकार बेशर्मी से बचाव ही नहीं करती रही, इस हत्याकाण्ड के एक मुख्य अभियुक्त से मिलने के लिए मुख्यमंत्री महोदय अस्पताल तक जा पहुँचे।

दूसरी ओर सत्ता से बाहर होने के बाद से ही आपस में कुत्तों की तरह लड़ रहे कांग्रेसियों के पास भी हवाई वायदों की झड़ी लगाने के अलावा जनता को देने के लिए कुछ नहीं है। भ्रष्टाचार के मसले पर भाजपा सरकार को कटघरे में खड़ा करने की उसकी कोशिश की बार-बार हवा निकल जाती रही है क्योंकि उसके अनेक नेता ख़ुद ही भ्रष्टाचार की गटरगंगा में गोते लगा रहे हैं।

राजस्थान में वसुन्धरा राजे की सरकार ने पाँच वर्ष के दौरान भ्रष्टाचार, लूट-खसोट और दमन के जो कीर्तिमान स्थापित किये हैं, उसके बाद वह किस मुँह से जनता के हितों की बात करेगी? सो अब "जै-जै राजस्थान" के नारे के सहारे राज्य के गौरव को वापस लाने की बातें की जा रही हैं। इनके भी रोल मॉडल नरेन्द्र मोदी ही हैं जिनके गुजरात गौरव की बानगी पूरी दुनिया देख चुकी है। किसानों के आन्दोलनों पर बेहिचक गोलियाँ चलवाने वाली वसुन्धरा राजे आज बड़ी बेशर्मी से राजस्थान को अपना "समधियाना" बताकर एक ओर भावनात्मक मुद्दों को भुनाने की कोशिश कर रही हैं तो दूसरी ओर कर्नल बैंसला जैसे गुर्जर नेताओं को पटाकर जातिगत समीकरण भिड़ाने में लगी हैं। कांग्रेस और दूसरी छोटी पार्टियाँ भी जातिगत समीकरणों की ही जोड़-तोड़ में लगी हुई हैं।

उधर जम्मू-कश्मीर में फ़ौज के दम पर आठ चरणों में चुनाव भले ही करा लिये जायें, असलियत यह है कि ये चुनाव लोकतन्त्र के नाम पर महज़ एक मज़ाक़ होंगे। भारत सरकार की नीतियों की बदौलत कश्मीरी जनता का ज्यादातर हिस्सा आज पूरी तरह अलग-थलग हो चुका है। वहाँ लगातार जारी दमन के खिलाफ कश्मीरी जनता का आन्दोलन फ़िलिस्तीनी इन्तिफ़ादा जैसा रूप अख़्तियार कर चुका है। अमरनाथ श्राइन बोर्ड को ज़मीन देने के सवाल पर जम्मू में भाजपा और आर.एस.एस. की अगुवाई में चले आन्दोलन के दौरान किये गये ज़हरीले प्रचार ने कश्मीरी अवाम के अलगाव को और बढ़ाने का ही काम किया है। यह एक नंगी सच्चाई है कि कांग्रेस, भाजपा, नेशनल कांफ्रेंस और पीडीपी – इनमें से कोई भी जम्मू-कश्मीर की जनता के हितों का प्रतिनिधित्व नहीं करता। ऐसे में इन चुनावों से वहाँ की स्थिति पर कोई फर्क नहीं पड़ने वाला। हाँ, जम्मू और कश्मीर के बीच दूरी और बढ़ेगी और सेना के जोर पर जबरन वोट डलवाने या फर्जी मतदान कराने जैसी कार्रवाइयों से कश्मीरी जनता का अलगाव और बढ़ जायेगा।

यह तो तय है कि इन विधानसभा चुनावों में किसी भी पार्टी की सरकार बने, आम मेहनतकश आबादी के लिए कोई फर्क नहीं पड़ने वाला। लूट-खसोट की नीतियाँ बदस्तूर जारी रहेंगी, छँटनी-तालाबन्दी-दमन-उत्पीड़न का सिलसिला ऐसे ही चलता रहेगा, मेहनतकश के श्रम और देश के संसाधनों को कौड़ियों के मोल बेचा जाता रहेगा, ग़रीबों के बच्चे भूख-कुपोषण और दवाओं की कमी से ऐसे ही मरते रहेंगे...। ये चुनाव हमें एक बार फिर यह याद दिला रहे हैं कि मज़दूरों को इन मदारियों के खेल की असलियत को समझ लेना होगा और इसे मटियामेट कर भगतसिंह के सपनों का हिन्दुस्तान बनाने के लिए नये इन्क़लाब की तैयारियों में लग जाना होगा।

संसद और विधानसभाएं गुण्डों, डकैतों, वेश्यागामियों और तस्करों के अड्डे बन चुके हैं!
इनकी असलियत सामने आ गयी है! सांसद और विधायक पूंजीपतियों की सत्ता के चाकर हैं।
दोगले और पतित भारतीय पूंजीवाद के चरित्र के अनुरूप ही इनका भी चरित्र है।
भारतीय पूंजीवादी जनतंत्र पूंजीपतियों की तानाशाही है।
अरबों के खर्च से होने वाले चुनाव जनता के साथ धोखाधड़ी है!
इनके खिलाफ उठो! संगठित हो जाओ!
क्रान्ति की लम्बी और कठिन तैयारी में लग जाओ!!
हम तमाम इन्साफपसन्द, बहादुर और विवेकशील नागरिकों का आह्वान करते हैं!
हम तमाम मेहनतकश लोगों का आह्वान करते हैं!

ग्रेज़ियानो के मज़दूरों की जमानत याचिका खारिज

नोएडा में श्रमायुक्त कार्यालय बन्द करने की तैयारी

ग्रेटर नोएडा के ग्रेजियानो कारखाने में 22 सितम्बर को आन्दोलनकारी मजदूरों पर मैनेजमेंट के गुण्डों के हमले के बाद मची अफरातफरी में कम्पनी के सीईओ की मौत के बाद से अब तक जेल में बन्द 63 मजदूरों की जमानत याचिका 31 अगस्त को सेशन अदालत ने खारिज कर दी। इस निर्णय ने एक बार फिर पूँजीवादी न्यायपालिका के घोर वर्गीय पूवाग्रह को नंगा कर दिया है। इस देश में जहाँ अपनी कार से गरीबों को सरेआम कुचल डालने वाले रईसजादों से लेकर बड़े अपराधियों तक को जमानत मिल जाती है वहाँ इन मजदूरों को बिना किसी सबूत के पूरी तरह फर्जी मुकदमे में बन्द रखा गया है।

बिल्कुल साफ है कि मायावती सरकार किसी भी कीमत पर मजदूरों को सबक सिखा देना चाहती है ताकि वे मालिकों के खिलाफ सर उठाने की हिम्मत न करें।

इसी मकसद से अब नोएडा से श्रम विभाग का कार्यालय ही खत्म करने का रास्ता साफ किया जा रहा है। उत्तर प्रदेश के सबसे बड़े औद्योगिक इलाके के मजदूरों के रहे-सहे अधिकारों की सुरक्षा की जिम्मेदारी अब परम भ्रष्ट नोएडा औद्योगिक विकास प्राधिकरण को सौंप दी गयी है।

ये घटनाएँ ग्रेजियानो ही नहीं सभी मजदूरों के लिए एक सबक हैं। पूँजी और श्रम की आमने-सामने की लड़ाई में कानून और अदालतों के भरोसे मजदूर अपने हक नहीं हासिल कर सकते। उन्हें एकजुट होकर अपने जुझारू और व्यापक संगठन बनाने होंगे। तभी वे अपने अधिकारों को बचा पायेंगे और एक बेहतर जिन्दगी तथा बेहतर समाज के लिए संघर्ष कर सकेंगे।

– बिगुल प्रतिनिधि

फिर सताने लगा है पूँजीवादी दुनिया को कम्युनिज़्म का हौवा!

(पेज 1 से आगे)

अक्सर कहा जाता है, शुरू से ही शुरू करें।

पूँजीवाद का बीज-शब्द है : मुनाफ़ा। वह हर चीज़ को ख़रीद-फ़रोख़्त की चीज़ बना देता है। वह मज़दूर की श्रमशक्ति को भी माल में बदल देता है। पूँजीपति मज़दूर को उसकी श्रमशक्ति के मूल्य के बराबर मज़दूरी देता है और उस मूल्य से ज़्यादा मज़दूर का श्रम जो कुछ भी पैदा करता है, उसे हड़प लेता है। मज़दूर से निचोड़े गये इस अतिरिक्त मूल्य को ही वह पूँजी में बदलकर उसका निवेश करता है और फिर मज़दूर को और अधिक निचोड़ता है। जितना अधिक निचोड़ा जाता है उतना ही पूँजी संचय होता है और जितना अधिक पूँजी संचय होता है, उतना ही अधिक निचोड़ा जाता है। पूँजी संचय का यह निरपेक्ष और सामान्य नियम है कि समाज के एक छोर पर सम्पत्ति का संचय होता है और दूसरे छोर पर ग़रीबी का संचय। राष्ट्रीय आय में मज़दूरी का हिस्सा घटते जाने और पूँजीपतियों द्वारा लूटे गये अतिरिक्त मूल्य का हिस्सा बढ़ते जाने के साथ ही सर्वहारा वर्ग की सापेक्षिक ग़रीबी बढ़ती जाती है और साथ ही श्रम दशाओं और जीवनदशाओं में लगातार गिरावट उसे निरपेक्ष दरिद्रता की स्थिति में धकेलती जाती है। ज़्यादा मुनाफ़ा निचोड़ने के लिए पूँजीपति एक ओर तो काम के घण्टों को बढ़ाकर मज़दूर को उजरती गुलाम बना देते हैं, दूसरी ओर उन्नत मशीनें लगाकर मज़दूरों की बड़ी आबादी की छँटनी करके कम मज़दूरों से उतनी ही या उससे भी कम पगार देकर ज़्यादा उत्पादन करते हैं, क्योंकि श्रम बाज़ार में मज़दूरों की बहुलता के चलते श्रमशक्ति का मोल घट गया रहता है। समस्या यह पैदा हो जाती है कि मुनाफ़ा कूटने की अन्धी हवस में पूँजीपति अराजक ढंग से ज़्यादा से ज़्यादा माल पैदा करते हुए सर्वहारा सहित सभी आम उत्पादकों को कंगाल करके उनकी क्रयशक्ति कम करते चले जाते हैं। क्रयशक्ति के सापेक्ष सामाजिक उत्पादन की अधिकता हो जाती है। गोदामों-दुकानों में माल अँटे पड़े रह जाते हैं और लोग उन्हें ख़रीद नहीं पाते। अतिरिक्त मूल्य पूँजीपति के पास नहीं आ पाता है। मन्दी छा जाती है। उत्पादन रुकने लगता है। पूँजी नष्ट होने लगती है।

साथ ही, पूँजीवाद के अन्तर्गत अलग-अलग कारख़ानों में तो उत्पादन संगठित रहता है, लेकिन सामाजिक उत्पादन में अराजकता व्याप्त रहती है। जिस क्षेत्र में मुनाफ़ा अधिक होता है, पूँजीपति आपस में होड़ करते हुए उधर भाग निकलते हैं और उतना पैदा कर देते हैं, जितने के ख़रीदार नहीं होते। व्यापारिक गतिविधियाँ भी बनावटी माँग पैदा करके समाज की वास्तविक क्रयशक्ति को छुपाती हैं। जब तक बाज़ार में दाम चढ़ते रहते हैं, व्यापारी उद्योगपतियों को माल का ऑर्डर देते रहते हैं और बैंकर उन दोनों को ऋण मुहैया कराते रहते हैं। इस प्रकार बाज़ार में एक कृत्रिम समृद्धि बनी रहती है जो सापेक्षिक अतिउत्पादन पर पर्दा डालने का काम करती है। जब यह पर्दा हटता है तो मन्दी और आर्थिक संकट का दौर सामने होता है। कई उपादान होते हैं जो कृत्रिम समृद्धि के इस पर्दे को ज़्यादा से ज़्यादा लम्बे समय तक बनाये रखते हैं और यह समय जितना ही लम्बा होता है, पर्दा उतरने के बाद की असलियत भी उतनी ही अधिक भयावह होती है। जैसे, सूद से मुनाफ़ा कमाने वाली बैंकिंग पूँजी विशेषकर मध्यवर्गीय उपभोक्ताओं को कारख़ानों में उत्पादित माल ख़रीदने के लिए तरह-तरह के आकर्षक ऋण-पैकेज देती हैं। तमाम बैंक ज़्यादा से ज़्यादा उपभोक्ताओं को लुभाने के लिए ज़्यादा से ज़्यादा लुभावनी शर्तों पर ऋण देने के लिए लुभाते हैं। फिर उनकी यही तिकड़म तब आत्मघाती सिद्ध होती है जब क्षमता से अधिक ले चुके लोग क़र्ज़ लौटा नहीं पाते, फलत: बैंक डूबने लगते हैं, वित्त बाज़ार में मन्दी आ जाती है, जो वास्तविक उत्पादन के क्षेत्र में गिरावट और मन्दी को और अधिक गम्भीर बना देती है। आगे हम देखेंगे कि यही चीज़ अधिक वित्तीय जटिलताओं के साथ हाल के उस अमेरिकी सबप्राइम संकट के रूप में घटित हुई, जिससे वर्तमान विश्वव्यापी मन्दी की शुरुआत हुई।

उन्नीसवीं शताब्दी से ही पूँजीवाद एक कुण्डलाकार रास्ते से होकर, संकट-मन्दी के दौर, उबरने के दौर, और फिर तेजी के दौर के चक्रों से गुज़रता रहता था। **फ़्रेडरिक एंगेल्स** ने इसका वर्णन इस प्रकार किया था : "*रफ़्तार तेज़ हो जाती है; धीमे क़दम तेज़ क़दमों में बदल जाते हैं। औद्योगिक तेज क़दम दौड़ते तेज क़दमों में बदल जाते हैं। दौड़ते क़दम उद्योग, वाणिज्य, क्रेडिट और सट्टाबाज़ारी गतिविधियों की लंगड़ी दौड़ में फर्राटा बन जाते हैं। अन्त में, कई अन्तिम, बदहवास छलांगों के बाद यह ध्वंस के रसातल में गिर पड़ते हैं।*" पूँजीवाद संकट और मन्दी, उससे उबरने, और फिर तेज़ी के चक्रों से लगातार गुज़रता रहा है। लेकिन हर अगली बार संकट पहले से अधिक गम्भीर होकर आता रहा है। संकट के दो चक्रों के बीच का अन्तराल प्राय: कम होता जाता रहा है और यदि कभी ऐसा नहीं होता रहा है तो अगली बार संकट अधिक भीषण रूप में सामने आता रहा है। इस प्रक्रिया में एक नया मुक़ाम था 1930 के दशक की महामन्दी और आर्थिक महाध्वंस, और वृद्धावस्था के असाध्य, अन्तकारी रोग जैसी नयी परिघटना सामने आयी 1970 के दशक से लगातार जारी दीर्घकालिक आर्थिक संकट के रूप में। 1973-74 के बाद से ही स्थिति यह है कि रोगी की तबीयत बीच-बीच में कुछ सँभलती है, कुछ राहत एवं उम्मीदों के आसार नज़र आते हैं और फिर रोगी नीमबेहोशी में चला जाता है। यानी आवर्ती चक्रीय क्रम में आने वाले संकट के दौरों के बाद ढाँचागत संकट का एक ऐसा दीर्घकालिक दौर शुरू हुआ है, जिसके बीच-बीच में राहत और सापेक्षिक तेज़ी की कुछ अल्पकालिक तरंगें उठती रही हैं और अब सितम्बर-अक्टूबर, 2008 में, लगभग दो वर्षों तक सबप्राइम संकट की मौजूदगी के बाद अमेरिका में वित्तीय ध्वंस के साथ ही विश्व वित्तीय तन्त्र के धराशायी होने और वास्तविक अर्थव्यवस्था में ठहराव और विघटन-संकुचन का जो सिलसिला एक नयी विश्वव्यापी मन्दी के रूप में सामने आया है, उसने पूरी पूँजीवादी दुनिया में हड़कम्प मचा दिया है। लेकिन बेहतर होगा कि आज पैदा हुई परिस्थिति को ठीक-ठीक समझने के लिए हम थोड़ा पीछे लौटकर सिलसिलेवार बात को आगे बढ़ायें।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश तक यूरोप और अमेरिका में पूँजी संचय और पूँजीवादी आर्थिक विकास सरपट रफ़्तार से दौड़ते हुए ठहराव के दौर में प्रविष्ट हो चुके थे। आपस में होड़ करते हुए यूरोपीय पूँजीपतियों ने अपने मुनाफ़े को उस हद तक बढ़ा लिया था कि अब और कमाने की गुंजाइश नहीं रह गयी थी। उपनिवेशों की जिस अकूत लूट ने यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति के लिए ज़रूरी प्रारम्भिक पूँजी मुहैया की थी, वही अब पूँजी की प्रचुरता के संकट को बढ़ाने का काम कर रही थी। इस समस्या के समाधान के प्रयासों ने कई नयी प्रक्रियाओं को जन्म दिया। 1873-1896 की पहली मन्दी के दौर में, विनिर्माण क्षमता और निर्यात के स्तर में बढ़ोत्तरी के साथ-साथ, यूरोपीय महाद्वीप के कई देश और अमेरिका ब्रिटिश आधिपत्य को चुनौती देने लगे थे। पूँजी के संकेन्द्रण की प्रक्रिया तेज़ हो गयी, इज़ारेदारी मुख्य प्रवृत्ति बनने लगी, बड़ी कम्पनियों ने छोटी कम्पनियों को निगल लिया और गलाकाटू प्रतिस्पर्द्धा में टिके रहने के लिए, तथा दाम एवं उत्पादन-नीतियों पर नियन्त्रण के लिए उन्होंने कार्टेल, ट्रस्ट, होल्डिंग कम्पनी, वृहद् कारपोरेशन आदि तरह-तरह की संस्थाएँ खड़ी कीं। एकाधिकारी बनते पूँजीपति घराने देशों के भीतर भी मज़दूरों और अन्य प्रत्यक्ष उत्पादकों को निचोड़ने के लिए गलाकाटू होड़ कर रहे थे और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर भी, अलग-अलग पूँजीवादी देशों के पूँजीपति अपने-अपने देशों की राज्यसत्ताओं के सहारे नये बाज़ारों के लिए प्रतिस्पर्द्धारत थे। नये-नये उपनिवेशों के लिए छीना-झपटी तीव्र हो चुकी थी। अपने विराट भूभाग में अश्वेत दासों और मज़दूरों के श्रम को निचोड़कर विपुल पूँजी संचय के बाद अमेरिकी पूँजीपति वर्ग को (अधिकांश लातिन अमेरिकी देशों के मुक्ति-युद्धों में स्पेनी उपनिवेशवादियों के पीछे हटने के बाद) लातिन अमेरिका को लूट का संरक्षित क्षेत्र बनाने का अवसर मिल चुका था। पूँजी की प्रचुरता के रूप में प्रकट होने वाले अतिउत्पादन के संकट को हल करने के लिए यूरोपीय उपनिवेशवादियों ने उपनिवेशों में पूँजी के निर्यात की शुरुआत की, जो धीरे-धीरे माल के निर्यात पर हावी हो गयी। पूँजी के निर्यात को तेज़ और सुगम बनाने के लिए बैंकिंग पूँजी और औद्योगिक पूँजी मिलकर एक हो गये और साम्राज्यवादी वित्तीय पूँजी का जन्म हुआ, जिसने फिर आगे बढ़कर अर्थतन्त्र की नियन्त्रणकारी चोटियों पर क़ब्ज़ा जमा लिया। यूँ तो बैंक और अन्य मुद्रा पूँजी पहले से मौजूद थे जो उद्योगों, व्यापारों, सरकारों और आमजनों को ऋण देने का और सूद लेने का काम करते थे। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक वित्तीय पूँजी के अदृश्य हाथ पश्चिमी देशों में एकाधिकारी घरानों के माध्यम से सारी औद्योगिक गतिविधियों को नियन्त्रित करने के साथ ही उपनिवेशों को भी नियन्त्रित करने लगे थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के नवें दशक से लेकर पहले विश्वयुद्ध के प्रारम्भ तक उपनिवेशवादी ताक़तों ने प्रतिवर्ष औसतन 2,40,000 वर्गमील उपनिवेशों का विस्तार किया जो उस सदी के प्रथम 75 वर्षों के प्रति वर्ष औसत विस्तार से तीन गुना था। बीसवीं सदी शुरू होते-होते घरेलू बाज़ार-निर्देशित यूरोपीय-अमेरिकी पूँजीवाद एकाधिकारी कम्पनियों द्वारा नियन्त्रित साम्राज्यवाद की शक़्ल अख़्तियार कर चुका था। यूरोप, अमेरिका के आन्तरिक और विदेश-व्यापार दोनों ही क्षेत्रों में "मुक्त व्यापार" का स्थान संरक्षणवाद ले चुका था। उपनिवेशों के संरक्षित बाज़ारों के रूप में पूरी दुनिया साम्राज्यवादियों के बीच बँटी हुई थी, अत: उसके पुनर्विभाजन के लिए युद्ध लाजिमी था। विशेषकर जर्मन साम्राज्यवाद अपनी बढ़ती आर्थिक शक्ति के साथ ब्रिटेन को सामरिक तौर पर भी चुनौती दे रहा था। इसकी अन्तिम परिणति प्रथम विश्वयुद्ध (1914-19) के रूप में सामने आयी। युद्ध में पराजित जर्मनी तो विश्व बाज़ार में अपनी हिस्सेदारी नहीं बढ़ा पाया, लेकिन साम्राज्यवादी तन्त्र के शीर्ष पर आसीन ब्रिटेन को भी काफ़ी नुक़सान उठाना पड़ा। अमेरिका को कोई नुक़सान नहीं हुआ, उल्टे युद्ध जर्जर यूरोप के पुनर्निर्माण कार्यों में पूँजी लगाकर उसने जमकर मुनाफ़ा बटोरा। जर्मनी ने फिर तेज़ी से अपनी उत्पादक शक्तियों का विकास किया और जापान एवं इटली के साथ धुरी बनाकर आक्रामक ढंग से पुन: विश्व बाज़ार पर प्रभुत्व के लिए अपनी दावेदारी पेश की जिसका नतीजा दूसरे विश्वयुद्ध (1939-45) के रूप में सामने आया। दो विश्वयुद्धों के बीच का समय ऐतिहासिक अफरा-तफरी भरा दौर था – 1930 के दशक की महामन्दी, विश्व बाज़ार के बँटवारे की खींचतान में नये-नये व्यापार गुटों और मुद्रा गुटों का निर्माण, डॉलर-स्वर्ण मानक की स्थापना ...आदि। **लेकिन पूँजीवादी विश्व को झकझोर देने वाली सर्वाधिक युगान्तरकारी घटना थी – रूस में हुई 1917 की पहली समाजवादी क्रान्ति**। गृहयुद्ध और प्रतिक्रान्ति के प्रयासों से उबरने के बाद समाजवादी निर्माण के वर्षों के दौरान सोवियत संघ में यूरोपीय औद्योगिक क्रान्ति की रफ़्तार को भी पीछे छोड़ देने वाली गति से आर्थिक प्रगति हुई। दूसरे विश्वयुद्ध में नात्सियों की पराजय सोवियत सेना के हाथों ही सम्भव हो सकी।

उपनिवेशों में पूँजी-निर्यात की तार्किक परिणति ने उपनिवेशवादियों के न चाहते हुए भी औपनिवेशिक-अर्द्धऔपनिवेशिक आर्थिक-सामाजिक संरचनाओं में पूँजीवाद के बीज डाल दिये। पुराने प्रतिरोध-युद्धों का स्थान राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों ने ले लिया, जिनके लिए समाजवादी सोवियत संघ प्रेरणा एवं सहायता का एक अहम स्रोत था। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद पूरा पूर्वी यूरोप समाजवादी शिविर में शामिल हो गया। चीन में सामन्तवाद-साम्राज्यवाद के विरुद्ध नवजनवादी क्रान्ति कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में सम्पन्न हुई। उत्तर वियतनाम और उत्तर कोरिया की राष्ट्रीय मुक्ति भी कम्युनिस्ट नेतृत्व में ही हासिल हुई। साथ ही, उपनिवेशों की मुक्ति का अविराम सिलसिला शुरू हो गया जो कमोबेश 1970 के दशक तक जारी रहा।

अब अमेरिका की स्थिति पर चर्चा के लिए थोड़ा पीछे लौटते हैं। प्रथम महायुद्ध में कोई नुक़सान उठाने के बजाय अमेरिका ने यूरोप में भी पुनर्निर्माण के कार्यों में पूँजी लगाकर ख़ूब मुनाफ़ा कमाया। "ऑटोमोबाइल-क्रान्ति" में भी वह अग्रणी था। तेज़ विकास ने जल्दी ही उसके सामने अतिउत्पादन और पूँजी की प्रचुरता का संकट ला खड़ा किया जिसका नतीजा 1930 के दशक की महामन्दी और आर्थिक ध्वंस के रूप में सामने आया। चूँकि साम्राज्यवाद के दौर में पूँजी के राष्ट्रीय धड़ों द्वारा संगठित "बाज़ार संरक्षणवाद" के बावजूद विश्व अर्थतन्त्र ज़्यादा गुँथा-बुना हुआ था, इसलिए अमेरिका से उठी महामन्दी की आँधी ने यूरोप को और उपनिवेशों को भी अपनी चपेट में ले लिया। जब विकसित देशों में माल बिकने की गुंजाइश ही कम हो गयी हो तो उपनिवेशों से कच्चे माल और कारख़ाना-उत्पादों की आपूर्ति पर भी प्रभाव पड़ना ही था। ब्रिटिश अर्थशास्त्री **जॉन मेनार्ड कीन्स** के "*कल्याणकारी राज्य*" के नुस्ख़ों और अमेरिकी राष्ट्रपति **रूज़वेल्ट** के "*न्यू डील*" ने अमेरिका को महामन्दी से उबारने में अहम भूमिका निभायी। इन दोनों का सारतत्व एक ही था। कीन्स का कहना था कि चूँकि पूँजी की स्वतन्त्र गति स्वयं पूँजीवाद के सामने ही अस्तित्व का संकट पैदा कर देती है और पूँजीपतियों की मुनाफ़ा कमाने की होड़ अन्तत: अतिउत्पादन और मन्दी का संकट पैदा कर देती है, अन्त: पूँजीवाद को पूँजीपतियों से बचाने के लिए राज्य का हस्तक्षेप कई रूपों में लाजिमी होता है। एक तो यह कि आर्थिक विकास में सन्तुलन लाने के लिए, जिन क्षेत्रों में पूँजीपति निवेश न कर रहे हों, उनमें राज्य स्वयं पूँजीपति की भूमिका निभाते हुए निवेश करे यानी जनता के पैसे को निवेश करके पूँजीवाद का हितसाधन करे। दूसरे, मेहनतकशों के सामाजिक विस्फोटों से व्यवस्था को बचाने के लिए, राज्य आगे आकर सामाजिक सुरक्षा की कुछ स्कीमें लागू करे और पूँजीपतियों पर श्रम क़ानूनों को लागू करने तथा मज़दूरों को कुछ हक़-रियायतें देने के लिए दबाव बनाये। तीसरे, मन्दी की मार से पूँजीवादी उत्पादन तन्त्र जब ध्वस्त हो जाये तो उस समय उसे विशेष मदद देकर फिर से खड़ा करे और बड़े पैमाने पर बेरोज़गार मज़दूर आबादी को भी राहत देकर सामाजिक असन्तोष के विस्फोट को रोके। ज़ाहिर है कि इस सबका बोझ भी सरकारी ख़ज़ाने को, यानी जनता को ही उठाना था। कीन्स के "कल्याणकारी राज्य" के नुस्ख़े ने वस्तुत: कुछ फ़ार्मूले समाजवाद से उधार लिये थे। उसका एक उद्देश्य पूँजीवाद को आर्थिक संकट से उबारना तो था ही, दूसरा अहम उद्देश्य मज़दूर असन्तोष पर सुधार-कल्याण के छींटे मारकर समाजवाद के ख़िलाफ़ एक वैचारिक मोर्चेबन्दी करना भी था। रूज़वेल्ट के 'न्यू डील' ने कीन्सियाई नुस्ख़ों पर ही अमल करते हुए अमेरिका को मन्दी से उबारने में अहम भूमिका निभायी। उधर युद्ध की तैयारियों ने यूरोप को भी मन्दी से राहत दे दी।

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद साम्राज्यवादी देशों के बीच उभरे नये शक्ति-सन्तुलन के अनुरूप विश्व पूँजीवादी तन्त्र का पुनर्गठन हुआ। जर्मनी, जापान और इटली के ध्वस्त हो जाने, पूरे यूरोप के तबाह हो जाने और इंग्लैंड के दिवालियेपन के कगार पर खड़ा हो जाने के बाद नये पूँजीवादी विश्व के शीर्ष पर अमेरिका आसीन हुआ जो युद्ध की तबाही से न केवल अप्रभावित बच निकला था, बल्कि युद्ध ने उसकी अर्थव्यवस्था को महामन्दी से निकालकर नयी सेहत बख़्शने का ही काम किया था। युद्ध से तबाह यूरोप के पुनर्निर्माण में पूँजी लगाकर अमेरिका ने ख़ूब मुनाफ़ा कमाया। जर्मनी और जापान को बैसाखी थमाते हुए मार्क और येन को ताक़तवर बनाने की प्रक्रिया में डॉलर ख़ुद भी अपनी ताक़त बढ़ाता रहा। **ब्रेट्टनवुड्स समझौते** (1944) ने इसी नये आर्थिक यथार्थ को संहिताबद्ध किया। डॉलर दुनियाभर की मुद्राओं का सरदार बना, विश्व वित्तीय व्यवस्था में **डॉलर-स्वर्ण मानक** लागू हुआ, यानी अमेरिका ने तमाम देशों के

(पेज 6 पर जारी)

फिर सताने लगा है पूँजीवादी दुनिया को कम्युनिज़्म का हौवा!

(पेज 5 का शेष)

केन्द्रीय बैंकों में जमा डॉलरों का मूल्य सोने में चुकाने का वायदा किया। अमेरिकी पूँजी के हितों को शीर्ष पर रखते हुए पूरे साम्राज्यवादी गिरोह की पूँजी के विश्वव्यापी प्रवाह को उचित चैनलों से संचालित-निर्देशित करने के लिए **विश्व बैंक** और **आई.एम.एफ़.** जैसी अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं का निर्माण हुआ। 1947 के **गैट क़रार** ने साम्राज्यवादी पूँजी और मुख्यत: अमेरिकी पूँजी की राह के व्यापारिक अवरोधों को कम करके विश्व-बाज़ार पर उसके वर्चस्व को पुख़्ता बनाने का काम किया।

अमेरिका ने तीसरी दुनिया के बहुतेरे देशों में उपनिवेशवाद की राख पर अपना एक नवऔपनिवेशिक तन्त्र खड़ा किया। इन अमेरिकी नवउपनिवेशों में प्राय: किसी तानाशाह की सत्ता होती थी, देश की आज़ादी बस नाममात्र की होती थी, जनता के जनवादी अधिकार नगण्य होते थे और अर्थतन्त्र पूरी तरह से अमेरिकी अर्थतन्त्र के साथ नत्थी होता था। जो नवस्वाधीन देश थे, उनको पूँजी और तकनोलॉजी देकर, सीधे और आई.एम.एफ़.-विश्वबैंक के ज़रिये ऋण एवं अनुदान देकर (तथा, सूद वसूलकर और पूँजी निवेश की अनुकूल शर्तें हासिल करके) तथा विश्व बाज़ार पर अपने आधिपत्य का लाभ उठाकर अमेरिका अपनी लूट का शिकार बनाता था। इन देशों के शासक पूँजीपति अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का लाभ उठाकर तथा अपने देश की जनता को निचोड़कर 'पब्लिक सेक्टर' खड़ा करके साम्राज्यवादी दबाव का मुक़ाबला करते थे और अपने आर्थिक विकल्पों का विस्तार करते थे, लेकिन कुल मिलाकर उनकी भूमिका नयी विश्व-व्यवस्था में साम्राज्यवाद के "जूनियर पार्टनर" की ही थी। 1980 के दशक तक दुनिया के अधिकांश नवउपनिवेशों का ख़ात्मा हो चुका था। अब नयी विश्वव्यवस्था में मुख्यत: उत्पादक शक्तियों के विकास और पूँजी की ताक़त के बूते ही साम्राज्यवादी (जिनमें अमेरिका प्रमुख था) देश पिछड़े पूँजीवादी देशों की जनता को लूटते थे और इसमें इन पिछड़े देशों के पूँजीपति शासक उनके सहयोगी की भूमिका निभाते थे। राजनीतिक दबाव का पहलू मौजूद रहता था, लेकिन गौण रूप में।

1956 में सोवियत संघ में पूँजीवादी पुनर्स्थापना के कुछ ही वर्षों बाद, समाजवादी अतीत की विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक संरचना का लाभ उठाकर अपेक्षाकृत कमज़ोर उत्पादक शक्ति होने के बावजूद सोवियत संघ एक आक्रामक साम्राज्यवादी अतिमहाशक्ति के रूप में उभरा। अमेरिका के साथ उसकी उग्र प्रतिस्पर्द्धा का लाभ तीसरी दुनिया के पूँजीपति वर्ग ने भी उठाया और दूसरी ओर जर्मनी और जापान जैसी नये सिरे से उभरती साम्राज्यवादी शक्तियों ने भी। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद लगभग दो दशकों तक पूँजीवादी विश्व का विकास असाधारण तेज़ गति से हुआ। युद्ध से हुए नुक़सान की भरपाई, युद्ध के दौरान आम उपभोक्ता सामग्रियों के उत्पादन में हुई कटौती से पैदा हुई अभाव की पूर्ति, युद्ध के लिए विकसित तकनालॉजी के युद्धेत्तर उत्पादनों में इस्तेमाल, ऊष्ण और शीतयुद्धों की नयी शृंखला तथा ऋण, अनुदान, सहायता और सीधे पूँजी-निवेश के ज़रिये तीसरी दुनिया के देशों में (जहाँ पूँजीवादी विकास की प्रक्रिया जारी थी) पूँजी-निर्यात के परिणामस्वरूप पचास और साठ के दशक में पूँजी संचय के लिए अनुकूलतम परिस्थितियाँ तैयार हुईं। लगा जैसे एक बार फिर पूँजीवाद का स्वर्णिम दौर आ गया। पर यह स्वप्न जल्दी ही टूट गया। पूँजी संचय का यह चरित्र है कि वह माँग की उस प्रेरक शक्ति को ही समाप्त कर देती है जो उसके लिए अनुकूल माहौल तैयार करती है। और वही हुआ। 1960 के दशक का अन्त होते-होते वह स्थिति पैदा हो चुकी थी, जिसकी परिणति 1974-75 की तीव्र मन्दी के रूप में हुई। यूरोप, विशेषकर, जर्मनी और जापान विदेश व्यापार और वित्तीय क्षेत्र में अमेरिका के निर्विवाद प्रभुत्व को चुनौती देने की स्थिति में पहुँचते जा रहे थे। डॉलर की शक्ति में आयी सीधी गिरावट के कारण 1971 में डॉलर का सोने से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया।

यह पूरी स्थिति अमेरिकी प्रभुत्व के ख़ात्मे की नहीं, बल्कि उसके पराभव के एक नये दौर की शुरुआत का संकेत दे रही थी। तीसरी दुनिया के देशों में अमेरिकी पूँजी की पैठ, अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं पर उसका प्रभुत्व, सोवियत साम्राज्यवाद की सामरिक शक्ति का मुकाबला करने में यूरोप की विवशता – इन बहुतेरे कारणों से अमेरिका को अपना वर्चस्व बनाये रखने मे मदद मिल रही थी। एक अहम कारण डॉलर-गोल्ड स्टैण्डर्ड के टूटने के बावजूद विश्व-मुद्रा के रूप में डॉलर की मौजूदगी भी रही है। आज तक की भी स्थिति भी यही रही है कि अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की मुख्य मुद्रा डॉलर है और दुनिया के लगभग सभी देशों (चन्द एक को छोड़कर) का विदेशी मुद्रा भण्डार डॉलर में है। डॉलर की स्थिति यदि एक झटके से बदले तो न केवल इन सभी देशों की अर्थव्यवस्थाओं में बल्कि पूरे वैश्विक अर्थतन्त्र में भूचाल आ जायेगा। यही कारण है कि दुनिया का सबसे बड़ा क़र्ज़दार होने के बावजूद अमेरिका डॉलर छापकर अपने घाटों की भरपाई कर लेता है और ऋणदाता देशों को अमेरिकी सरकारी बॉण्डों के कागज़ थमा देता है।

1976 में चीन में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना और अस्सी के दशक के अन्त तक सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप में राजकीय पूँजीवादी ढाँचे के टूटने और वहाँ पश्चिमी ढंग के नवक्लासिकी पूँजीवाद की स्थापना के बाद अमेरिका, यूरोप और जापान के सामने पूँजी-निवेश का नया क्षेत्र सामने आया। इधर तीसरी दुनिया के देशों के सामने भी, पश्चिमी देशों को चुनौती देने वाली एक महाशक्ति के विघटन के बाद, पश्चिमी साम्राज्यवादी दबाव के आगे झुकने के अतिरिक्त दूसरा कोई विकल्प नहीं बचा था। दूसरे, राजकीय पूँजीवादी ढाँचा खड़ा करके सापेक्षिक स्वतन्त्रता के साथ पूँजीवादी विकास की सम्भावनाएँ भी इन देशों में निचुड़ चुकी थीं। साथ ही, अब तक पर्याप्त आर्थिक शक्ति जुटा चुका इन देशों का निजी इज़ारेदार पूँजीपति वर्ग भी राजकीय उपक्रमों के निजीकरण और पश्चिमी देशों से पूँजी और तकनोलॉजी लेने के लिए दबाव बना रहा था। परिणामस्वरूप, तीसरी दुनिया के देशों ने अमेरिकी नेतृत्व वाले पश्चिमी खेमे और आई.एम.एफ़.-विश्व बैंक-गैट (अब विश्व व्यापार संगठन) निर्देशित नुस्ख़ों-नीतियों को स्वीकार करके अपने देश के बाज़ारों-दरवाज़ों को साम्राज्यवादी पूँजी के लिए लगभग पूरी तरह से खोल दिया। पूरी दुनिया में नवउदारवादी नीतियों का नया दौर शुरू हो चुका था। साम्राज्यवादियों और पिछड़े देशों के पूँजीपतियों की इस बात पर आम सहमति थी कि सभी कीनिसयाई नुस्ख़ों को त्यागकर शिक्षा, स्वास्थ्य आदि सभी क्षेत्रों को भी पूँजी निवेश का क्षेत्र बना दिया जाये तथा राज्य श्रमिकों के हितों की क़ानूनी हिफ़ाज़त का काम पूरी तरह से छोड़कर पूँजीपतियों को उनसे ज़्यादा से ज़्यादा अधिशेष निचोड़ने दे। बावजूद इसके, विश्व-अर्थव्यवस्था में 1973-74 से जारी दीर्घकालिक मन्दी का अभूतपूर्व लम्बा और जारी रहा। बीच-बीच में सुधार के कुछ लक्षण दीखते थे, फिर पुराना रोग और अधिक उग्र होकर उभर आता था। 1970 के दशक में विश्व अर्थव्यवस्था में मुद्रास्फीति लगातार बढ़ती गयी। 1980 के दशक में क़र्ज़ न चुका पाने का संकट और विदेशी मुद्रा विनिमय दरों की अनियन्त्रित अस्थिरता सामने आयी। फिर 1990 के बाद वित्त का अभूतपूर्व अन्तरराष्ट्रीयकरण हुआ तथा क़र्ज़ और सट्टेबाज़ी का घटाटोप-सा छा गया।

शेयर दलालों और बॉण्ड्स के व्यापारियों की वित्तीय दुनिया पहले भी मौजूद थी, पर कुल मिलाकर सट्टेबाज़ी उद्योग की सतत् धारा पर उठने वाले बुलबुले के समान ही थी। वित्त की दुनिया में शेयर बाज़ार नहीं, बल्कि बैंक की भूमिका प्रधान थी। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद इस स्थिति में परिवर्तन आने शुरू हुए और गत शताब्दी के नवें दशक तक स्थिति यह हो गयी थी कि वित्तीय पूँजी ने वास्तविक आर्थिक उत्पादन की सामान्य सहायक भूमिका से पूरी तरह स्वतन्त्र होकर, सम्पूर्ण विश्व अर्थव्यवस्था पर अपना प्रभुत्व क़ायम कर लिया। बैंक और बीमा कम्पनियाँ भी वास्तविक उत्पादन में निवेश के बजाय शेयर बाज़ार में निवेश करने लगीं। ताकि तुरत-फुरत मुनाफ़ा सुनिश्चित हो। तीसरी दुनिया के देशों में भी जो पूँजी आ रही है, उसका बड़ा हिस्सा उस आवारा पूँजी का है जो तुरन्त मुनाफ़े की आस में दुनियाभर के शेयर बाज़ारों का चक्कर लगाती रहती है। विदेशी (और देशी भी) पूँजी का एक छोटा हिस्सा उत्पादन कार्यवाइयों में लग रहा है और उसका भी बड़ा भाग नये कारखाने लगाने के बजाय पहले से खड़े कारख़ानों के अधिग्रहण में लग रहा है। कीन्स ने 1936 में लिखा था: *"उद्योग की स्थायी धारा पर उठने वाले सट्टेबाज़ी के बुलबुले कोई नुक़सान नहीं पहुँचा सकते। लेकिन स्थिति तब गम्भीर हो जाती है जब उद्योग ही सट्टेबाज़ी के भँवर में सतह पर तैरने वाला बुलबुला बन जाता है। जब किसी देश में पूँजीवाद का विकास जुआघरों का बाईप्रोडक्ट बन जाता है, तब पूरी सम्भावना है कि बात बिगड़ जाये।"* कीन्स ने तब शायद यह सोचा भी नहीं होगा कि आधी सदी बाद ही उसकी यह बात किसी एक राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था नहीं बल्कि पूरी विश्व अर्थव्यवस्था के लिए एक सच्चाई बन जायेगी। आज पूँजी का जो भी विश्वव्यापी प्रसार दिखायी दे रहा है वह विश्व के प्रमुख मुद्रा बाज़ारों में ऋण-सर्जन में सतत् वृद्धि, मुद्रा पूँजी के अन्तरराष्ट्रीय आवागमन और सट्टेबाज़ी के रूप में है। विनिर्माण और कच्चे माल के दोहन जैसी उत्पादक कार्यवाइयों में निवेश नाममात्र की हो रहा है। मुख्यत: निवेश शेयर बाज़ार बीमा जैसे वित्तीय क्षेत्रों में या विज्ञापन, मीडिया आदि अनुत्पादक क्षेत्रों में हो रहा है।

●

अमेरिकी सबप्राइम संकट और उत्तरवर्ती विश्वव्यापी मन्दी वास्तव में उसी अन्देशे का सही सिद्ध होना है जो कीन्स ने 1936 में प्रकट किया था। वर्तमान संकट को ठीक से समझने के लिए इसकी कुछ पूर्ववर्ती कड़ियों की भी चर्चा ज़रूरी है।

नवउदारवादी नीतियों या भूमण्डीकरण के दौर में पहली बार, अतिउत्पादन और पूँजी के प्रचुरता के पुराने पूँजीवादी संकट की ही अभिव्यक्ति पूर्वी एशियाई संकट के रूप में सामने आयी। इस संकट से निपटने के लिए अमेरिका के फ़ेडरल रिज़र्व बैंक ने ब्याज दरें बेहद गिरा दी थीं। इसका लाभ डॉट काम कम्पनियों ने उठाया। इन कम्पनियों का लक्ष्य था इण्टरनेट तकनोलॉजी के आधार पर आइडिया बेचना। इनका मानना था कि शुरुआत में कुछ घाटा उठाकर, फिर ब्राण्ड जागरूकता पैदा करके अपने उत्पादों और सेवाओं को बेचकर काफी मुनाफ़ा कमाया जा सकता है। घाटा उठाने की अवधि के दौरान ये कम्पनियाँ वेंचर पूँजी (यानी शुरू करने के लिए प्रारम्भिक पूँजी) पर निर्भर थी, जो फ़ेडरल रिज़र्व बैंक के बेहद कम ब्याज़ दरों व आसान शर्तों के कारण उन्हें तब आसानी से क़र्ज़ के रूप में प्राप्त हो रही थी। जल्दी ही इन कम्पनियों के शेयरों के दाम आसमान छूने लगे। मार्च, 2000 इस डॉट काम बुलबुले का चरमोत्कर्ष था। अभी तक भावी मुनाफ़े की उम्मीद में सैकड़ों डॉट काम कम्पनियाँ फ़ेडरल रिज़र्व बैंक की कम ब्याज दर के सहारे लगातार हानि में काम कर रही थीं। ज़ाहिर है कि नेटवर्क प्रभाव से इन सभी कम्पनियों का मुनाफ़ा कमा पाना सम्भव नहीं था। हर सेक्टर में सिर्फ़ एक-दो ही ऐसे विजेता हो सकते थे जो प्रचार और सट्टेबाज़ी के ज़रिये हानि के दौर में अपने उपभोक्ताओं की संख्या इतनी बढ़ा लेते थे कि बाद में मुनाफ़ा कमा पाते। 2001 तक स्थिति यह हो गयी कि भावी मुनाफ़े का इन्तज़ार करती सैकड़ों डॉट काम कम्पनियाँ अपनी वेंचर पूँजी ख़र्च कर चुकने के बाद दिवालिया हो गयीं। छँटनी और तालाबन्दी हुई, शेयर बाज़ार भारी मन्दी का शिकार हो गया। बाज़ार में नक़दी में भारी कमी आयी और पूरी अमेरिकी अर्थव्यवस्था एक गम्भीर मन्दी की ओर बढ़ने लगी। डॉट काम बुलबुला फट चुका था।

आसन्न गम्भीर मन्दी के संकट को देखते हुए फ़ेडरल रिज़र्व बैंक ने ब्याज दरों को ऐतिहासिक रूप से निम्न स्तर तक गिरा दिया क्योंकि उपभोक्ता सामग्रियों की ख़रीद में भारी कमी आने लगी थी और उपभोक्ता ख़र्च को गिरने से रोकने के लिए यह ज़रूरी हो गया था कि 'वेल्थ इफेक्ट' पैदा किया जाये और उपभोक्ताओं को आसान ऋण उपलब्ध कराया जाये। अमेरिकी रियल इस्टेट की शक्तिशाली लॉबी ने अमेरिकियों के मकान मालिक बनने के सपने को उन्माद की हदों तक बढ़ावा दिया। आम लोग यह भी मानते है कि आवारा में निवेश एक जोखिम मुक्त और भरोसेमन्द निवेश है। नतीजतन, डॉटकाम बुलबुले के फटने के बाद जैसे ही शेयरों की क़ीमतें गिरीं, रियल इस्टेट स्टॉक मार्केट द्वारा शुरू किये गये सट्टेबाज़ी के पागलपन के लिए एक प्राथमिक निकासी-द्वार बन गया।

बैंक और वित्तीय संस्थान ऊँचे दर्जे की ऋण पात्रता वाले लोगों को, रकम की वापसी की अधिकतम निश्चितता के साथ जो ऋण देते हैं, उनमें पहला होता है *'एएए' ऋण* या *प्राइम ऋण*। इसके बाद आता है *'आल्टरनेटिव ए'* ऋण जिसमें थोड़ा अधिक जोखिम होता है। इसके बाद तीसरी श्रेणी *सबप्राइम ऋण* की बनाई गयी, जिसे उन लोगों को दिया गया जो पहली दो श्रेणियों के लिए नहीं ऋणी में आते थे, इसलिए पूँजी की प्रचुरता से ग्रस्त अमेरिकी वित्तीय बाज़ार उन्हें छोड़ नहीं सकता था, ख़ासतौर पर तब जब प्रथम दो श्रेणियों के ऋण का बाज़ार सन्तृप्त हो चुका था। फलत: निवेश बैंकों और मार्टगेज बैंकों ने अन्धाधुन्ध सबप्राइम ऋण दिये। ऋण के तरह-तरह के पैकेज बनाकर अन्य वित्तीय संस्थाओं को – जैसे बीमा कम्पनियों, वाणिज्यक बैंकों और हेज फ़ण्ड्स को बेचा गया, इस उम्मीद के साथ कि इससे जोखिम का वितरण हो जायेगा और बुरे ऋणों के संकट से कोई एक बैंक ध्वस्त नहीं होगा।

सबप्राइम संकट की शुरुआत 2006 के उत्तरार्द्ध में हुई। यह तथ्य आम है कि विगत दो दशकों से अमेरिका व्यापार घाटे का शिकार है और गत शताब्दी के अन्त तब वह दुनिया का सबसे बड़ा क़र्ज़दार देश बन चुका था। कहावत है कि दुनिया पैदा करती है, अमेरिका उपभोग करता है। हालाँकि डॉलर की विश्व मुद्रा होने की स्थिति का लाभ उसके पक्ष में है, पर यह स्थिति फिर भी बहुत दिनों तक नहीं चल सकती, इसका अहसास अमेरिकी साम्राज्यवादियों को भी है। भारी राष्ट्रीय ऋण और व्यापार घाटे के कारण अमेरिकी फ़ेडरल रिज़र्व बैंक ने जब अपनी ब्याज दरें बढ़ा दीं तो निवेश बैंकों और मार्टगेज बाज़ार के बड़े खिलाड़ियों को भी अपनी ब्याज दरें बढ़ानी पड़ी। इसकी सबसे भारी चोट पड़ी सबप्राइम ऋण लेने लोगों पर, जिन्होंने परिवर्तनीय ब्याज दर के तहत ऋण ले रखे थे। ऐसे लोगों ने ऋण के भुगतान में अपनी असमर्थता प्रकट कर दी। 2007 तक सौ से भी अधिक सबप्राइम ऋणदाता दिवालिया हो गये। अमेरिका का 65 खरब डॉलर का मॉर्टगेज बाज़ार धराशाही हो गया। ऋण-भुगतान में असमर्थ लोगों के घरों की नीलामी शुरू हुई। लेकिन 'हाउसिंग बूम' ख़त्म होने के बाद घरों की क़ीमतों में भारी कमी आ गयी थी और घर ख़रीदने में लोगों की दिलचस्पी ख़त्म हो चुकी थी।

अत: नीलामियों से अब कोई लाभ नहीं था। फलत: पूँजी बाज़ार के खिलाड़ियों की पूँजी फँसने लगी। बाज़ार में तरलता की कमी, यानी नक़दी की कमी पैदा हो गयी। तरलता की कमी के कारण कई निवेश बैंक असमाधेयता (इनसॉल्वेंसी) के शिकार हो गये, 'क्रेडिट क्रंच' की स्थिति पैदा हो गयी। कई बड़े निवेश बैंकों और हेज फ़ण्ड्स के दिवालिया होने के चलते स्टॉक मार्केट में भी पतन का ख़तरा पैदा हो गया। उपभोक्ताओं ने और अधिक ख़र्च करने और उपभोक्ता ख़रीदारियों को वित्तपोषित करने की क्षमता खो दी। इससे स्थिर आय, इक्विटी और डेरिवेटिव बाज़ार में अस्थिरता बढ़ी। अमेरिका के सकल घरेलू उत्पाद का 70 प्रतिशत उपभोक्ता ख़रीदारियों से आता है। इसलिए ज़ाहिर है कि उपभोक्ता ख़रीदारियों की कमी ने वास्तविक अर्थव्यवस्था पर गम्भीर प्रतिकूल प्रभाव छोड़ा। केवल अमेरिका ही नहीं, बल्कि पूरी दुनिया की वास्तविक अर्थव्यवस्था पर भी इसका प्रभाव पड़ने लगा। यह

(पेज 7 पर जारी)

फिर सताने लगा है पूँजीवादी दुनिया को कम्युनिज़्म का हौवा!

(पेज 6 का शेष)

प्रभाव दो रास्तों से पड़ा। एक तो जो देश मुख्यत: अमेरिकी बाज़ार के लिए पैदा करते थे (जैसे निर्यात निर्देशित चीनी उत्पादन तन्त्र के सामानों का सबसे बड़ा ख़रीदार अमेरिका है, और जापान, यूरोपीय देशों, भारत आदि अधिकांश देशों से अमेरिका कुछ न कुछ ख़रीदता है), उनकी अर्थव्यवस्था का मन्द पड़ना स्वाभाविक था। दूसरा प्रभाव आज पूरी दुनिया के शेयर बाज़ारों के परस्पर जुड़े होने के नाते पड़ना था। अमेरिका के शेयर बाज़ार के नीचे आते ही, पूरी दुनिया में उसका असर पड़ना ही था और फिर इसका प्रभाव वास्तविक अर्थव्यवस्था पर भी पड़ना ही था। भारत और चीन जैसी अर्थव्यवस्थाओं में जिस विदेशी संस्थागत निवेश के कारण शेयर बाज़ार के भाव आसमान छूते हैं, उसका बड़ा हिस्सा हेज फ़ण्ड्स की पूँजी का होता है जो सबप्राइम संकट जैसे पूँजी बाज़ार के किसी संकट का सर्वाधिक शिकार होती है। संकट के दौर में ऐसी पूँजी शेयर बाज़ार से भागना शुरू कर देती है और ज़बरदस्त अस्थिरता पैदा हो जाती है। अमेरिकी सबप्राइम बाज़ार के ढहने के साथ ही मॉर्टगेज ऋणों को वित्तपोषित करने के लिए पूरी दुनिया के वित्त बाज़ार में पूँजी की कमी हो गयी। वित्तीय पूँजी के भूमण्डलीकरण, यानी वैश्विक पूँजी बाज़ार के अधिक से अधिक परस्पर जुड़ जाने के बाद ऐसा होना लाज़िमी था। स्थिति यह थी कि सितम्बर 2007 में ब्रिटेन का प्रमुख मार्टगेज बैंक '**नार्दर्न रॉक**' लोगों द्वारा 2 खरब डॉलर निकालने की वजह से दिवालिया होने के कगार पर आ गया। बैंक ऑफ़ इंग्लैण्ड ने उसे हस्तक्षेप करके बचाया। ब्रिटिश पूँजी बाज़ार में 20 अरब डॉलर पूँजी इंग्लैण्ड के केन्द्रीय बैंक ने इंजेक्ट की।

यह स्थिति थी 2008 की शुरुआत होने तक। लोग यह समझ रहे थे कि कुछ वित्तीय उपायों और कुछ प्रतीक्षा के बाद संकट धीरे-धीरे हल्का पड़ता हुआ टल जायेगा। लेकिन सतह के नीचे तो वित्तीय तन्त्र और वास्तविक अर्थव्यवस्था में विश्वव्यापी भूचाल की पूर्वपीठिका तैयार हो रही थी। ध्वंसकारी विस्फोट हुआ अक्टूबर के पहले सप्ताह में। वॉल स्ट्रीट में मची खलबली ने पूरी दुनिया की वित्तीय व्यवस्था को झकझोर दिया। पूरी दुनिया के वित्तीय बाज़ार से 60 खरब डॉलर की रकम उड़नछू हो गयी। इसके पहले वित्तीय संकट की आँधी में सितम्बर महीने में ही अमेरिका के पाँच बड़े बैंक धराशायी हो चुके थे। उसके भी पहले, मध्य जुलाई में **इण्डी मैक** नामक मार्टगेज बैंक धराशायी हो चुका था। तबसे आठ शीर्षस्थ बैंक दिवालिया हो चुके हैं। सिर्फ़ सितम्बर के तीन सप्ताहों में **लीमैन ब्रदर्स, मैरिल लिंच** और **वाशिंगटन म्यूचुअल** ग़ायब हो गये तथा **फेनी माय** और **फ्रेडी मैक** का नियन्त्रण सरकार ने अपने हाथों में ले लिया। दुनिया की सबसे बड़ी बीमा कम्पनी **ए.आई.जी.** को बचाने के लिए सरकार को 85 अरब डॉलर का बेलआउट देना पड़ा। इस संकट से उबरने के लिए सितम्बर में दस निवेश और वाणिज्यिक बैंकों ने हाथ मिलाकर 70 अरब डॉलर की उधारी सुविधा स्थापित करने का निर्णय लिया, लेकिन बाज़ार में वित्तीय कत्लोग़ारत का माहौल बना रहा। महज दस दिन उन बैंकों के राष्ट्रीकरण, डूबने और बचाव की प्रक्रिया के गवाह रहे जिसमें 10 खरब डॉलर की परिसम्पत्ति के साथ दुनिया की सबसे बड़ी बीमा कम्पनी, 15 खरब डॉलर की परिसम्पत्ति के साथ दुनिया के दो बड़े निवेश बैंक और 18 खरब डॉलर की सम्पत्ति के साथ अमेरिकी मॉर्टगेज बाज़ार की दो भीमकाय फ़र्में शामिल थीं। अक्टूबर के पहले सप्ताह में अमेरिकी वित्तीय बाज़ार में आयी सुनामी ने जब पूरी दुनिया के वित्तीय तन्त्र को झकझोरकर रख दिया तो दुनियाभर के साम्राज्यवादियों और पूँजीपतियों ने, उसके सिद्धान्तकारों, सलाहकारों और राजनीतिक प्रतिनिधियों ने युद्ध स्तर पर भागदौड़ शुरू कर दी। तबाही का जो 'चेन रिएक्शन' शुरू हुआ था, वह पूरी दुनिया के शेयर बाज़ारों, निवेश एवं वाणिज्य बैंकों को अपनी चपेट में ले चुका था। दुनिया के अरबपतियों की पूँजी में रातोरात अरबों की कमी हो गयी थी। वित्तीय ध्वंस की यह नयी लहर वास्तविक अर्थव्यवस्था में 2006-07 से ही जारी विश्वव्यापी लहर को और ख़तरनाक बना देगी यह अन्देशा विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के चौधरियों और सिद्धान्तकारों को दिन-रात आपात बैठक करके उपाय निकालने को विवश कर रहा था। तुरन्त अमेरिका ने बची हुई वित्तीय संस्थाओं को बचाने के लिए 700 अरब डॉलर के बेलआउट पैकेज की घोषणा की और 250 अरब डॉलर सीधे अग्रणी बैंकों को देने का निर्णय लिया। यूरोपीय देशों ने 773 अरब डॉलर और जापान ने 275 अरब डॉलर के बेलआउट पैकेज की घोषणा की। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन ने 877 अरब डॉलर ख़र्च करके बैंकों का बड़ा हिस्सा ख़रीदने का निर्णय लिया। संयुक्त अरब अमीरात ने 70 अरब डॉलर की आपात फ़ण्डिंग करके अपने बैंक जमा पर तीन साल की गारण्टी दी। इन सारे क़दमों के बावजूद बाज़ार में अस्थिरता-अनिश्चितता का माहौल अभी भी बना हुआ है। यही नहीं, संकट रिसकर वास्तविक अर्थव्यवस्था को पूरी दुनिया के पैमाने पर अपनी चपेट में ले चुका है। अमेरिकी अर्थव्यवस्था सिर्फ़ इस वर्ष की तीसरी तिमाही में 0.3 प्रतिशत सिकुड़ गयी और आय में 8.7 प्रतिशत की गिरावट आयी। अमेरिकी अर्थतन्त्र के 2/3 भाग को चलाने वाले उपभोक्ता ख़र्चों में 3.1 प्रतिशत की गिरावट आयी। 1950 के बाद अमेरिका में ग़ैर-टिकाऊ उपभोक्ता सामानों की खपत में सबसे तेज़ गिरावट आयी है। मन्दी और अर्थव्यवस्था के संकुचन की यही स्थिति यूरोप और तीसरी दुनिया के पूँजीवादी देशों की भी है। अमेरिका, यूरोप से लेकर चीन और भारत तक छँटनी, वेतन कटौती, लेऑफ़ का सिलसिला जारी है। ग्लोबल असेम्बली लाइन पर जो श्रम-सघन काम चीन, भारत, मेक्सिको आदि देशों के वर्कशॉपों में होते थे, वहाँ गम्भीर संकट है। निर्यात के लिए होने वाले उत्पादन और ऐसी नयी परियोजनाओं को भविष्य अन्धकारमय है। निर्यात-निर्भरता को कम करके देशी उपभोक्ता बाज़ार को बढ़ावा देने के लिए चीनी सरकार ने 10 नवम्बर को अवरचना और सार्वजनिक कल्याण कार्यों के लिए 586 अरब डॉलर के '**आर्थिक प्रोत्साहन पैकेज**' की घोषणा की है जिससे दुनिया के बाज़ारों में थोड़ी तेज़ी आयी है। लेकिन यह पैकेज भी, विश्व अर्थव्यवस्था तो दूर, चीन का संकट हल करने के लिए भी शायद ही कारगर सिद्ध होगा।

●

कीन्स ने मन्दी की मार से पूँजीवादी अर्थतन्त्र को बचाने के लिए सार्वजनिक कोष की पूँजी को वित्तीय बाज़ार में झोंकने की नहीं बल्कि वास्तविक अर्थव्यवस्था में लगाने और सीधे उपभोक्ताओं को (कल्याणकारी राजकीय उपायों द्वारा) राहत देने का नुस्ख़ा सुझाया था। पर आज का परजीवी, परभक्षी, अनुत्पादक पूँजीवाद कीन्स के दौर तक भी वापस नहीं लौट सकता। वह केवल वित्तीय महाप्रभुओं को बचाने के लिए उनके घाटे का बोझ उठाने के लिए ही आम करदाताओं से उगाही गयी रकम झोंक सकता है और यह हवाई उम्मीद पाल सकता है कि वित्तीय दुनिया में स्थिरता आने से वास्तविक अर्थव्यवस्था का ठहराव भी टूट जायेगा। लेकिन यह एक ख़याली पुलाव मात्र है। सच्चाई यह है कि साम्राज्यवादी देश अतिउत्पादन और पूँजी की प्रचुरता के जिस असाध्य संकट में फँसे हुए हैं, उसके चलते लम्बे समय से, चढ़ावों-उतारों के साथ जारी दीर्घकालिक मन्दी अब एक ऐसे गम्भीर दौर में प्रवेश का संकेत दे रही है जो निकट भविष्य में उग्र तूफ़ानों और आर्थिक ध्वंस को जन्म दे सकती है। तय है कि मुनाफ़े के लिए उत्पादन की होड़ करने वालों ने प्रत्यक्ष उत्पादकों को निचोड़कर उनकी क्रयशक्ति को इस हद तक कम कर दिया है कि विपुल पूँजी के निवेश के लिए उत्पादक क्षेत्र में गुंजाइश ही कम है। इसी सापेक्षिक अतिउत्पादन की स्थिति में पूँजी तुरत-फुरत मुनाफ़ा कमाने के लिए सट्टा बाज़ार में लग रही है और विभिन्न अनुत्पादक क्षेत्रों में लग रही है। हालत यह है कि वास्तविक अर्थव्यवस्था में निवेश की गुंजाइश होने पर भी, तुरत और जल्दी मुनाफ़ा कमाने के लिए होड़रत पूँजीपति शेयर बाज़ार का रुख़ करते हैं। चूँकि पूँजीपतियों के बीच यह अन्धी होड़ बनी रहेगी, इसलिए यह प्रवृत्ति भी बनी रहेगी। पूँजीवाद के सामने और कोई रास्ता नहीं है।

मार्क्स ने यह दिखलाया था कि अतिरिक्त मूल्य की दर में गिरते जाने की अन्तर्निहित प्रवृत्ति होती है। इसी आधार पर उन्होंने साबित किया था कि समाज के सतत् विकास के लिए मुनाफ़े को केन्द्र में रखकर उत्पादन करने वाली अर्थव्यवस्था एक मंज़िल के बाद समाज को आगे नहीं ले जा पायेगी और उसका स्थान एक ऐसा समाज लेगा जिसमें संचय का उद्देश्य निजी मालिकाने की व्यवस्था के अन्तर्गत मालिकों का मुनाफ़ा बढ़ाना और मेहनतकशों को जीने की न्यूनतम ज़रूरतें देना मात्र नहीं होगा। उसमें पूरा समाज उत्पादन करेगा और संचय करेगा और बढ़ता संचय पूरे समाज के सभी सदस्यों के जीवन को उन्नत से उन्नततर, सुन्दर से सुन्दरतर और ज़्यादा से ज़्यादा विविधतापूर्ण बनाता जायेगा। इसका कारण यह है कि उस समाजवादी समाज में, उत्पादन के साधन पूरे समाज की साझा सम्पत्ति होंगे। उत्पादन भी सामाजिक होगा और विनियोजन भी सामाजिक होगा।

विश्व पूँजीवाद के असाध्य ढाँचागत आर्थिक संकट की विगत क़रीब तीन दशकों से जारी प्रक्रिया में सघन मन्दी और आर्थिक ध्वंस का जो यह नया दौर आया है, इससे कुछ तात्कालिक राहत भले ही मिल जाये, पर यह स्वत:सिद्ध हो गया है कि समस्या का कोई अन्तिम समाधान पूँजीवादी दायरे के भीतर सम्भव ही नहीं है। इस अहसास ने पूँजी के शिविर में सघन निराशा का माहौल तैयार किया है जबकि श्रम के शिविर में समाजवादी मुक्ति-परियोजनाओं के पुनर्निर्माण के अनुकूल माहौल तैयार किया है।

आश्चर्य नहीं कि पिछले दिनों बुर्जुआ अख़बारों में कई बार ऐसी ख़बरें प्रकाशित हुईं कि ब्रिटेन में, जर्मनी में और कई दूसरे देशों में मार्क्स के लेखन और मार्क्सवादी साहित्य की बिक्री इन दिनों काफ़ी बढ़ गयी है। अमेरिका में एक ओर तो मार्क्सवाद में लोगों की दिलचस्पी बढ़ी है, दूसरी ओर चर्च जाने वालों की संख्या बढ़ गयी है। रूस और उक्रेन जैसे देशों में **लेनिन-स्तालिन** की विरासत को मानने वाले और ख्रुश्चेवपन्थी संशोधनवाद का विरोध करने वाले संगठनों की बढ़ती सक्रियता की ख़बरें पहले भी आती रही हैं। चीन में सुदूरवर्ती गाँवों के किसानों से लेकर औद्योगिक क्षेत्रों के मज़दूरों तक – "बाज़ार समाजवाद" का कहर झेल रहे मेहनतकशों के लगातार विद्रोहों की, नये सिरे से संगठित होने की तथा **माओ** और **सांस्कृतिक क्रान्ति** की विरासत के पुनर्जागरण की ख़बरें पिछले क़रीब दस वर्षों से लगातार आती रही हैं। '**बिगुल**' में भी ऐसी कई रिपोर्टें प्रकाशित हो चुकी हैं।

अठारह वर्षों पहले सोवियत संघ के विघटन के बाद, **फ्रांसिस फुकोयामा** ने '*इतिहास के अन्त*' का नारा देते हुए उदारवादी पूँजीवादी जनतन्त्र की विजय को निर्णायक और अन्तिम विजय बताया था। फिर तीन या चार वर्षों पूर्व '*इण्डिया टुडे कांक्लेव*' में जब वह भारत आये थे तो पूँजीवादी जनतन्त्र के लिए कम्युनिज़्म को सबसे बड़ा ख़तरा बताया था। और अब अख़बारों में ख़बर आयी है कि पूँजीवाद के भविष्य को लेकर वे काफ़ी निराश हैं। यह सब कुछ अनायास नहीं है। पूँजीवादी बौद्धिक जगत की निराशा पूँजीवाद के आर्थिक जगत के उस संकट और निराशा की ही अभिव्यक्ति है, जो बता रहा है कि निजी मुनाफ़े के लिए सामाजिक उत्पादन की प्रणाली का ध्वंस करके ही मनुष्यता वस्तुत: अपने को मुक्त कर सकती है।

साम्राज्यवाद के असमाधेय संकट का यह अर्थ कदापि नहीं है कि विश्व पूँजीवाद अपने आप धराशायी हो जायेगा और समाजवाद का युग आ जायेगा। जब तक नयी सामाजिक-आर्थिक संरचना और राजनीतिक ढाँचे का निर्माण करने की सुचिन्तित योजना के साथ सर्वहारा क्रान्ति की नेतृत्वकारी शक्ति नये सिरे से संगठित नहीं होगी, तब तक कई बार के संकट और आर्थिक अराजकता के बावजूद पूँजीवादी व्यवस्था अपने को पुनर्गठित करके घिसटती रहेगी। हालाँकि यह प्रक्रिया भी अनन्तकाल तक नहीं चलती रहेगी। वस्तुगत परिस्थितियों और मनोगत शक्तियों का सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक होता है। जो परिस्थितियाँ दुनिया के मेहनतकशों को असहनीय, नारकीय अँधेरे में धकेल रही हैं, जो परिस्थितियाँ धनी-ग़रीब के बीच के ध्रुवीकरण को लगातार तीखा बना रही हैं, वही मज़दूरों की मानसिकता भी तैयार कर रही हैं कि वे विद्रोह करें और व्यवस्था और उसके विकल्प के बारे में तथा बदलाव के रास्ते के बारे में सही समझदारी हासिल करते हुए विद्रोह से क्रान्ति की दिशा में आगे बढ़ें। वर्तमान वस्तुगत परिस्थितियाँ क्रान्तिकारी प्रचार एवं शिक्षा को आत्मसात करने के लिए मज़दूर वर्ग की मानसिकता तैयार करेंगी और दुनिया की बिखरी हुई कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शक्तियों को प्रेरित करेंगी कि वे अक्टूबर क्रान्ति और अतीत की सभी सर्वहारा क्रान्तियों की शिक्षाओं को आज के सन्दर्भ में जाने-समझें तथा आज की दुनिया और अपने-अपने देश की परिस्थितियों का अध्ययन करके अक्टूबर क्रान्ति के नये संस्करण की तैयारी में जुट जायें।

वर्तमान विश्वव्यापी आर्थिक संकट का एक परिणाम जो ज़्यादा सुनिश्चित है, वह यह है कि पूँजीवादी विश्व के अमेरिकी चौधराहट के दिन अब बीतने वाले हैं। डॉलर की स्थिति अब बहुत वर्षों तक विश्व मुद्रा की नहीं रह पायेगी। ईरान और वेनेज़ुएला के बाद अब चीन, कई अन्य लातिन अमेरिकी देशों और यूरोपीय देशों ने अपने विदेशी मुद्रा भण्डार को सिर्फ़ डॉलर में रखने के बजाय उसके विविधीकरण की प्रक्रिया शुरू कर दी है। यूरोप (विशेषकर जर्मनी और फ्रांस) अमेरिकी वर्चस्व को चुनौती देने की तैयारी में है। रूस में 2020 तक अपने तेल केन्द्रित अर्थतन्त्र को तकनोलॉजी-केन्द्रित बनाने की योजना पर काम करता हुआ आर्थिक-राजनीतिक- सामरिक स्तर पर अमेरिका को चुनौती देने लगा है। आने वाले दिनों में अलग-अलग साम्राज्यवादी ताक़तों के ब्लाकों के बीच अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा तीखी होती जायेगी। इन ब्लाकों में भारत, चीन, ब्राजील, द.अफ़्रीका जैसे तीसरी दुनिया के सापेक्षत: अधिक विकसित पूँजीवादी देशों की भी अहम भूमिका होगी। ज़्यादा सम्भावना है कि गहराते साम्राज्यवादी अन्तरविरोध (राष्ट्रपारीय निगमों के रूप में पूँजी के अन्तरराष्ट्रीयकरण और नाभिकीय प्रतिरोधक की मौजूदगी के चलते) विश्वयुद्ध के रूप में तो न विस्फोट करें, लेकिन महाद्वीपीय-क्षेत्रीय युद्धों के रूप में प्रकट होते रहें। जब तक साम्राज्यवाद रहेगा, युद्ध जारी रहेंगे। ये युद्ध सर्वहारा क्रान्तियों की परिस्थितियाँ और तेज़ी से तैयार करेंगे और सर्वहारा क्रान्तियों का नया चक्र ही साम्राज्यवादी-पूँजीवादी युद्धों को समाप्त करने का ऐतिहासिक काम करेगा।

अक्टूबर क्रान्ति के बाद, राष्ट्रीय मुक्ति युद्ध और जनवादी क्रान्तियाँ विश्व सर्वहारा क्रान्ति के मुख्य संघटक अवयव थे। अब दुनिया के जिन देशों में साम्राज्यवाद का सर्वाधिक दबाव है, और जहाँ नयी 'ट्रेण्ड सेटर', 'पाथ ब्रेकिंग' सर्वहारा क्रान्तियों की ज़मीन तैयार है, वे ऐसे पिछड़े पूँजीवादी देश हैं जहाँ साम्राज्यवाद-पूँजीवाद विरोधी क्रान्ति – यानी नयी समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल हैं। ऐसी क्रान्तियाँ ही आज विश्व सर्वहारा क्रान्ति का प्रमुख संघटक अवयव हैं। अक्टूबर क्रान्ति का नया संस्करण आज इसी रूप में सम्भावित है।

श्रम और पूँजी के बीच विश्व ऐतिहासिक महासमर का जो चक्र उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में शुरू हुआ, वह 1970 के दशक में चीन में आख़िरी सर्वहारा दुर्ग के पतन के बाद समाप्त हो गया। आने वाले समय में इस विश्व-ऐतिहासिक महासमर का नया चक्र अवश्यम्भावी है। इक्कीसवीं शताब्दी निर्णायक, नयी सर्वहारा क्रान्तियों की शताब्दी होगी, अक्टूबर क्रान्ति के नये संस्करण के निर्माण की शताब्दी होगी, पूँजीवादी विश्व का वर्तमान संकट इसी ऐतिहासिक सच्चाई को सत्यापित करने वाला तथ्य है।

●

नवउदारवादी अर्थनीति के 18 वर्ष

भारत की तरक्की के दावों की ढोल की पोल : समृद्धि के तलघर में नर्क का अँधेरा

18 वर्षों पहले नरसिंह राव की सरकार ने जब उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों की शुरुआत की थी तो आज के प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह तब वित्तमन्त्री थे। उन्होंने तब 'ट्रिकल डाउन थ्योरी' की पिपिहिरी बजाते हुए दावा किया था कि जब समाज के शिखरों पर समृद्धि आयेगी तो वह रिसकर नीचे तक पहुँच जायेगी। तबसे 18 वर्ष बीत चुके हैं। सच्चाइयाँ जो सामने हैं वे मनमोहन सिंह के दावे के एकदम विपरीत हैं। आइये, उन पर एक निगाह डालें।

पहले से ही जारी धनी-ग़रीब के बीच की ध्रुवीकरण की प्रक्रिया, आम मेहनतकशों के कंगालीकरण की प्रक्रिया विगत 18 वर्षों में और अधिक तेज़ हो गयी है।

– 'केपजेमिनी' और 'मेरिल लिंच' द्वारा तैयार की गयी 'एशिया-प्रशान्त सम्पदा रिपोर्ट' के अनुसार, विगत कुछ वर्षों के दौरान भारत करोड़पतियों की संख्या में वृद्धि दर की दृष्टि से पूरी दुनिया में वियतनाम के बाद दूसरे स्थान पर रहा है। दिसम्बर 2007 में भारत में 1 लाख 23 हज़ार करोड़पति थे, जो एक वर्ष पूर्व के मुक़ाबले 23 प्रतिशत अधिक था। करोड़पति वृद्धिदर के मामले में तीसरे स्थान पर चीन आता है। ज्ञातव्य है कि बाज़ार समाजवाद के नाम पर चीन और वियतनाम में भी नवउदारवाद का घटाटोप छाया है, जिसके चलते वहाँ भी सामाजिक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया तेज़ गति से जारी है।

– 'फ़ोर्ब्स' पत्रिका द्वारा जारी सूची के अनुसार, वर्ष 2006 में दुनिया के 946 अरबपतियों में 36 भारतीय शामिल थे। 2005 में दुनिया में 768 अरबपति थे। यानी एक वर्ष में विश्वस्तर पर अरबपतियों की संख्या में 26 प्रतिशत की वृद्धि हुई, जबकि भारतीय अरबपतियों की संख्या में 64 प्रतिशत की वृद्धि हुई। देश के दस सर्वोच्च खरबपति हर मिनट दो करोड़ रुपये बनाते हैं। अकेले मुकेश अम्बानी हर मिनट 40 लाख रुपये बनाते हैं। दुनिया के शीर्षस्थ 5 महाधनिकों में से दो भारतीय हैं। 'फ़ोर्ब्स' पत्रिका द्वारा तैयार दुनिया के अरबपतियों की सूची में 2004 में 9 भारतीय शामिल थे। यह संख्या 2007 तक बढ़कर 40 हो गयी। भारत से बहुत अधिक धनी देश जापान में अरबपतियों की तादाद 2007 में महज़ 24, फ़्रांस में 14 और इटली में भी 14 थी। चीन में तेज़ आर्थिक विकास और तेज़ी से बढ़ती ग़ैरबराबरी के बावजूद 2007 में वहाँ कुल 17 अरबपति ही थे। भारत के अरबपतियों की दौलत महज़ एक साल में, 2006-07 के दौरान 106 अरब डॉलर से बढ़कर 170 अरब डॉलर हो गयी। अर्थशास्त्री अमित भादुड़ी (फ़िलहाल, अगस्त-सितम्बर 2008) के अनुसार, अरबपतियों की दौलत में 60 फ़ीसदी बढ़ोत्तरी इसलिए मुमकिन हुई कि राज्य और केन्द्र सरकारों ने खनन, उद्योगीकरण और विशेष आर्थिक क्षेत्रों के लिए "सार्वजनिक उद्देश्य" के नाम पर बड़े पैमाने पर ज़मीन निजी कारपोरेशनों को सौंप दी। कारपोरेट मुनाफ़े के आँकड़े बताते हैं कि वर्ष 2000-01 के बाद से अब तक सकल घरेलू उत्पाद में हर अतिरिक्त 1 फ़ीसदी की बढ़ोत्तरी से कारपोरेट मुनाफ़ों में 2.5 फ़ीसदी की बढ़त हुई है। आज़ादी के बाद के छः दशकों का बैलेंसशीट यह है कि ऊपर के 22 एकाधिकारी पूँजीपति घरानों की परिसम्पत्ति में 500 गुने से भी अधिक का इज़ाफ़ा हुआ है। इन घरानों में वे बहुराष्ट्रीय निगम शामिल नहीं हैं जिनके शुद्ध मुनाफ़े में दोगुना-चौगुना नहीं बल्कि औसतन सैकड़ों गुना की वृद्धि हुई है।

– 18 वर्षों के नवउदारवादी दौर के बाद, इक्कीसवीं सदी के भारत की ख़ासियत यह है कि यह अरबपतियों की कुल दौलत के लिहाज़ से अमेरिका के बाद दुनिया में दूसरे नम्बर पर है, लेकिन बेघरों, कुपोषितों, भूखों और अनपढ़ों की तादाद के लिहाज़ से भी दुनिया में पहले नम्बर पर है। ऐश्वर्य-समृद्धि की चकाचौंध भरी दुनिया का दूसरा अन्धकारमय पहलू यह है कि (राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के अनुसार) देश की 18 करोड़ आबादी झुग्गियों में रहती है और 18 करोड़ आबादी फ़ुटपाथों पर सोती है। राष्ट्रीय नमूना

बोलते आँकड़े चीख़ती सच्चाइयाँ

सर्वेक्षण के ही अनुसार, ग्रामीण भारत में प्रतिदिन औसत उपभोग मात्र 19 रुपये और शहरी भारत में 30 रुपये है। गाँवों की दस प्रतिशत आबादी 9 रुपये रोज़ पर गुज़ारा करती है। 'नेशनल कमीशन फ़ॉर इण्टरप्राइज़ेज़ इन द अनऑर्गेनाइज़्ड सेक्टर' की एक रिपोर्ट के अनुसार, वर्ष 2004-05 में क़रीब 84 करोड़ लोग (यानी आबादी का 77 फ़ीसदी हिस्सा) रोज़ाना 20 रुपये से भी कम पर गुज़र कर रहे थे । इनमें से 22 फ़ीसदी लोग रोज़ाना 11.60 रुपये की आमदनी पर (यानी सरकारी 'ग़रीब रेखा' के नीचे), 19 फ़ीसदी लोग रोज़ाना 11.60 रुपये से 15 रुपये के बीच की आमदनी पर और 36 फ़ीसदी लोग रोज़ाना 15 से 20 रुपये के बीच की आमदनी पर गुज़ारा कर रहे थे।

– सालाना 8-9 प्रतिशत की दर से कुलाँचे मार रही अर्थव्यवस्था (हालाँकि वर्तमान विश्वव्यापी मन्दी के बाद सकल घरेलू उत्पाद की यह वार्षिक वृद्धि दर 6 प्रतिशत पर आ जायेगी, ऐसा अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष का अनुमान है) वाला यह देश वर्ष 2007 में संयुक्त राष्ट्र मानव विकास सूचकांक के अनुसार, 124वें स्थान से नीचे खिसककर 127वें स्थान पर आ गया। भारत में औसत आयु चीन के मुक़ाबले 7 वर्ष और श्रीलंका के मुक़ाबले 11 वर्ष कम है। संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार, भारत में 5 वर्ष से कम आयु के बच्चों की मृत्युदर चीन के मुक़ाबले तीन गुना, श्रीलंका के मुक़ाबले लगभग 6 गुना और यहाँ तक कि बांग्लादेश और नेपाल से भी ज़्यादा है। भारतीय बच्चों में से क़रीबन आधों का वज़न ज़रूरत से कम है और वे कुपोषण से ग्रस्त हैं। क़रीब 60 फ़ीसदी बच्चे ख़ून की कमी से ग्रस्त हैं और 74 फ़ीसदी नवजातों में ख़ून की कमी होती है। प्रतिदिन लगभग 9 हज़ार भारतीय बच्चे भूख, कुपोषण और कुपोषणजनित बीमारियों से मरते हैं। 5 साल से कम उम्र के बच्चों की मौत के 50 फ़ीसदी मामलों का कारण कुपोषण होता है। 5 वर्ष से कम आयु के 5 करोड़ भारतीय बच्चे गम्भीर कुपोषण के शिकार हैं। संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार, 63 फ़ीसदी भारतीय बच्चे प्रायः भूखे सोते हैं और 60 फ़ीसदी कुपोषणग्रस्त होते हैं। 23 फ़ीसदी बच्चे जन्म से कमज़ोर और बीमार होते हैं। एक हज़ार नवजात शिशुओं में से 60 एक वर्ष के भीतर मर जाते हैं। लगभग दस करोड़ बच्चे होटलों में प्लेटें धोने, मूँगफली बेचने आदि का काम करते हैं।

– अन्तरराष्ट्रीय खाद्यनीति शोध संस्थान की 2007 की रिपोर्ट के अनुसार भुखमरी की दृष्टि से दुनिया के 118 देशों में भारत का स्थान 94वाँ था, जबकि पाकिस्तान का 88वाँ और चीन का 47वाँ। अन्तरराष्ट्रीय खाद्यनीति शोध संस्थान और कैलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय द्वारा तैयार किये गये 'वैश्विक भूख सूचकांक' (ग्लोबल हंगर इण्डेक्स) 2008 के अनुसार, दुनिया के 88 देशों में भारत का 66वाँ स्थान है। अफ़्रीकी देशों और बांग्लादेश को छोड़कर भूखे लोगों के मामले में भारत सभी देशों से पीछे है। दुनिया में कुल 30 करोड़ लोग भुखमरी के शिकार हैं और 2015 तक भूख की समस्या मिटा देने के संयुक्त राष्ट्र संघ के आह्वान के बावजूद 2030 तक इनकी संख्या बढ़कर 80 करोड़ हो जाने का अनुमान है। इस आबादी का 25 प्रतिशत हिस्सा सिर्फ़ भारत में रहता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के खाद्य व कृषि संगठन की एक रिपोर्ट के अनुसार, पूरी दुनिया में 85 करोड़ 50 लाख लोग भुखमरी, कुपोषण या अल्पपोषण के शिकार हैं। इनमें से लगभग 35 करोड़ आबादी भारतीय है। हर तीन में से एक (यानी लगभग 35 करोड़) भारतीयों को प्रायः भूखे पेट सोना पड़ता है। न तो पूरी दुनिया के स्तर पर और न ही भारत के स्तर पर इसका कारण खाद्यान्न की कमी नहीं, बल्कि बढ़ती महँगाई और आम लोगों की घटती वास्तविक आय है। संयुक्त राष्ट्र संघ की एक रिपोर्ट के अनुसार, भारत में 1991 में प्रति व्यक्ति औसत खाद्यान्न उपलब्धता 580 ग्राम थी जो 2007 में घटकर 445 ग्राम रह गयी। उल्लेखनीय है कि इस दौरान समाज के समृद्ध तबक़ों (उच्च मध्यवर्ग तक) ने खाने-पीने पर अपना ख़र्च काफ़ी बढ़ाया है। यानी औसत खाद्यान्न उपलब्धता में उपरोक्त अवधि में दर्शायी गयी कमी से भी अधिक कटौती ग़रीब के भोजन में हुई है। उसी रिपोर्ट के अनुसार, उदारीकरण के इन 18 वर्षों के दौरान समाज के ग़रीब हिस्से की प्रतिव्यक्ति कैलोरी खपत में भी काफ़ी कमी आयी है। जहाँ विकसित देशों के लोग औसतन अपनी कुल आमदनी का 10 से 20 फ़ीसदी भोजन पर ख़र्च करते हैं, वहीं भारत के लोग अपनी कुल कमाई का औसतन क़रीब 55 फ़ीसदी हिस्सा खाने पर ख़र्च करते हैं। लेकिन कम आय वर्ग के भारतीय नागरिक अपनी आमदनी का 70 प्रतिशत भाग भोजन पर ख़र्च करते हैं, और फिर भी उसे दो जून न तो भरपेट भोजन मिलता है, न ही पोषणयुक्त भोजन। औसतन एक आदमी को प्रतिदिन 50 ग्राम दाल चाहिए, लेकिन भारत की नीचे की 30 फ़ीसदी आबादी को औसतन 13 ग्राम ही नसीब हो पाता है। वर्ष 2006 से 2007 के बीच दाल की क़ीमतों में 110 प्रतिशत का इज़ाफ़ा हुआ। चन्द एक सीज़नल सब्ज़ियों को छोड़कर, हरी सब्ज़ी तो ग़रीब खा ही नहीं सकता। प्याज़, टमाटर और आलू तक ख़रीदना भी साल के अधिकांश हिस्से में उसके लिए मुश्किल होता है। आज से 50 वर्षों पहले 5 व्यक्तियों का परिवार एक साल में औसतन जितना अनाज खाता था, आज उससे 200 किलो कम खाता है।

(अगले अंक में जारी)

बजाज संस के मज़दूर संघर्ष की राह पर

(पेज 3 से आगे)

काफ़ी बुलन्द हैं। मज़दूरों को दफ़्तर में बुलाकर उत्पादन बढ़ाने और दो-दो मशीनें चलाने के लिए कह रहे हैं। मना करने पर कुछ लोगों को नौकरी से निकाल भी दिया है। निकाले गये मज़दूरों के हक़ में लेबर कोर्ट ने फैसला भी दिया है लेकिन उन्हें दोबारा काम पर नहीं रखा गया है। मज़दूरों के साथ गाली-गलौज फिर से शुरू कर दी गयी है। प्रबन्धन ने यहाँ तक कहना शुरू कर दिया है कि उनकी फ़ैक्ट्री में कोई यूनियन ही नहीं है। लेकिन इस कमजोर स्थिति में भी मज़दूरों ने हार नहीं मानने की ठानी है। फिर से सभी मज़दूरों को सदस्यता प्रदान की जा रही है ताकि यूनियन को पंजीकृत करवाया जा सके।

फ़ैक्ट्री में यूनियन को मज़बूत करने में एक दिक्कत यह आ रही है कि बहुत कम पंजाबी मज़दूर यूनियन का साथ दे रहे हैं। जैसे कि सीएनसी विभाग में लगभग सभी मज़दूर पंजाबी हैं और अगर वे भी यूनियन के साथ आ जायें तो मालिकों को झुकाना ज़्यादा आसान हो जायेगा। यह विभाग कारख़ाने का बहुत महत्त्वपूर्ण विभाग है और हड़ताल के समय इसको बन्द करके कारख़ाने के काम को पूरी तरह से ठप्प किया जा सकता है। पर पंजाबी मज़दूर अभी यह नहीं समझ पा रहे हैं कि मज़दूर चाहे कहीं के भी हों उनका हित इसी में होता है कि वे मालिकों के ख़िलाफ़ बाक़ी मज़दूरों के साथ एकता क़ायम करें। पंजाबी मज़दूरों को भी ख़ुद को मज़दूर ही मानते हुए यूपी-बिहार और अन्य प्रान्तों के मज़दूरों के साथ एका क़ायम करनी चाहिए तभी वे अपने हितों की भी हिफाजत कर पायेंगे।

बजाज संस के मज़दूरों ने कारख़ाने के भीतर की माँगों को लेकर जो संघर्ष किया है वह प्रशंसा के योग्य है। हालाँकि कमजोरियाँ रही हैं, गलतियाँ हुई हैं पर पहलक़दमी लेकर कुछ करने वाले ग़लतियाँ करते ही हैं इसमें कोई नयी बात नहीं। यहाँ मुख्य बात यह है कि मज़दूर जगे हैं और लड़े हैं। इस लड़ाई को ज़्यादा मेहनत करके और भी मज़बूत करना होगा। आठ घण्टे के कार्य-दिवस का इतना वेतन कि गुज़ारा हो सके, पे-स्लिप, बोनस बढ़ाने आदि माँगों पर आन्दोलन जारी रखना है। यूनियन के पास ईमानदार, निडर, जुझारू, दृढ़ और जनवादी नेतृत्व होने पर ही यह लड़ाई अच्छी तरह से आगे बढ़ सकती है। पारदर्शिता बहुत ज़रूरी है। मज़दूरों को आँख मूँदकर नेताओं की बात नहीं माननी चाहिए। फैसले मज़दूरों के सामने होने चाहिए और उसमें ज़्यादातर मज़दूरों की भागीदारी होनी चाहिए। यूनियन के आय-व्यय के हिसाब में पारदर्शिता होनी चाहिए। ऐसा होने पर आम सदस्यों में यूनियन के कामों में दिलचस्पी बढ़ेगी।

बजाज संस के मज़दूरों को यह बात भी समझनी होगी कि सिर्फ़ अपने कारख़ाने के भीतर एकता क़ायम करने से कुछ नहीं होगा। लड़ाई जीतने के लिए ज़रूरी है कि संघर्ष को दूसरे कारख़ाने के मज़दूरों तक फैलाया जाये। आज लुधियाना के सभी कारख़ानों के अन्दर हालात लगभग एक जैसे हैं। सभी की माँगें एक सी बनती हैं। कारख़ाना मालिकों ने अपने संगठन बना रखे हैं। वे मिल-बैठकर कारख़ानों में लागू होने वाले नियम तय करते हैं और इस बात पर भी विचार-विमर्श करते हैं कि मज़दूरों के असन्तोष और आन्दोलनों से कैसे पार पाया जाये। अगर हम लोगों को अपनी माँगें मनवानी हैं और लड़ाई जीतनी है तो व्यापक मज़दूर आबादी तक संघर्ष को फैलाना होगा। दूसरे कारख़ानों में यूनियनें बनवाने और उनके साथ मिलकर चलने की नीति अपनानी होगी। इससे हम इस लायक बन सकेंगे कि मालिकों को कुछ सुधार करने के लिए मजबूर कर सकें।

यह तो रही कुछ सुधारों की लड़ाई लेकिन क्या हमें सिर्फ़ सुधारों के बारे में ही सोचना चाहिए? नहीं, हमें इससे भी आगे बढ़कर सोचना होगा और मज़दूरों के ऐतिहासिक मिशन को याद करना होगा। अगर हम समाजवाद क़ायम करने के लिए इस बुनियादी लड़ाई को नहीं लड़ेंगे तो सुधारों के लिए लड़ी जाने वाली हमारी लड़ाई का भी कोई अर्थ नहीं रह जायेगा। इसकी वजह यह है कि इस पूँजीवादी शोषक व्यवस्था के अन्दर हम लड़कर कुछ हक़ हासिल कर भी लें तो भी देर-सबेर मालिक वर्ग फिर उन्हें छीन लेगा। मज़दूर वर्ग की अन्तिम मुक्ति पूरी पूँजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंककर ही सम्भव हो सकती है।

– बिगुल प्रतिनिधि

चोर, भ्रष्ट और विलासी नेताशाही : भारतीय पूँजीवादी जनतन्त्र की एक नंगी और गन्दी तस्वीर

(पेज 5 का शेष)

यह धनराशि भारत के सकल घरेलू उत्पाद से भी अधिक है और साथ ही, भारत के विदेशी मुद्रा भण्डार से लगभग पाँच गुना अधिक है (वर्ष 2006-07 के बाज़ार मूल्यों पर भारत का सकल घरेलू उत्पाद 414 खरब 60 अरब रुपये था और इस समय विदेशी मुद्रा भण्डार लगभग 300 अरब डॉलर है)। उल्लेखनीय है कि स्विस बैंकों में अन्य तमाम देशों के लोगों द्वारा कुल जमाराशि से भी अधिक अकेले भारतीयों ने जमा कर रखी है। काला धन छिपाने के लिए स्विस बैंकों के अतिरिक्त सेण्ट किट्स जैसे कई स्थान हैं जहाँ के बैंकों में भारतीयों ने काली कमाई छिपा रखी है। काले धन और 'अनअकाउण्टेड मनी' की समान्तर अर्थव्यवस्था की ताक़त और विस्तार का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि विदेशी बैंकों में जमा धन वास्तव में इसका एक छोटा सा हिस्सा ही है। भारत में अपंजीकृत उद्योगों, नक़ली सामान बनाने वाले उद्योगों, अवैध व्यापार, तस्करी आदि में लगा जो काला धन लगातार काला धन पैदा करता रहता है, उसमें नेताओं-नौकरशाहों का भी धन लगा रहता है। नेताओं-अफ़सरों की अरबों-खरबों की काली कमाई ज़मीन-जायदाद में बेनामी सम्पत्ति के रूप में लगी है। किसी और के नाम पर ठेकेदारी या अन्य व्यवसाय में, शेयर बाज़ार में, इलेक्ट्रानिक मीडिया और सिनेमा में भी नेताओं-अफ़सरों ने अरबों-खरबों की पूँजी लगा रखी है।

उदारीकरण-निजीकरण के दौर में नेताओं-अफ़सरों की काली कमाई में बेशुमार बढ़ोत्तरी के कारणों को आसानी से समझा सकता है। नवउदारवादी नीतियों ने देशी-विदेशी पूँजीपतियों को मुनाफ़े और पूँजी संचय के सभी वैध रास्तों के अतिरिक्त सैकड़ों अवैध रास्ते भी दिये हैं। मनमोहन सरकार ने 2004-05 के वार्षिक बजट में पूँजीपतियों को 20 खरब 67 अरब रुपये, 2005-06 के बजट में 23 खरब 52 अरब, 2006-07 के बजट में 25 खरब 60 अरब और 2007-08 के बजट में 27 खरब 90 अरब रुपये की छूट दी। वार्षिक बजट के अतिरिक्त देश की साढ़े तीन लाख कम्पनियों पर लगने वाले कर में छूट की गुंजाइशें इस हद तक बढ़ा दी गयीं कि मुनाफ़े पर कर की दर 33.99 फ़ीसदी होने के बावजूद वास्तव में वे 20 फ़ीसदी से भी कम कर देती हैं।

ज़ाहिर है कि हर ऐसी छूट पर केन्द्र और राज्यों के नेताओं-अफ़सरों को कमीशन और दलाली की रक़म मिलती है। इनके अतिरिक्त सैनिक साजो-सामान, भारी मशीनरी आदि की आपूर्ति, तकनोलॉजी विषयक समझौते, सड़क, रेल, कारख़ाने आदि सार्वजनिक निर्माण-कार्यों के ठेके, टेलीकॉम उद्योग में लाइसेंस देने जैसे काम – इन सभी में नेताओं-अफ़सरों की काली कमाई होती है। ठेका-लाइसेंस आदि को लेकर अलग-अलग क्षेत्रों में देशी एकाधिकारी घरानों में और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के बीच गलाकाटू होड़ चलती है और वे नेताओं-अफ़सरों को ख़रीदने के लिए अकूत धन ख़र्च करते हैं। बैंकिंग-बीमा या किसी क्षेत्र विशेष में विदेशी पूँजी-निवेश का अनुपात बढ़ाने या निजी क्षेत्र की दख़ल बढ़ाने के लिए सरकार के दर्जनों मन्त्रियों और दर्जनों अफ़सरों को देशी-विदेशी पूँजीपति ख़रीद लेते हैं। इन सबके चलते नेताशाही और अफ़सरशाही आज ऐश्वर्य के द्वीपों पर रोमन साम्राज्य के पतनशील दिनों के दास-स्वामियों और राजनीतिज्ञों का पतित-विलासी जीवन बिता रहे हैं और साथ ही तमाम काले-सफ़ेद धन्धों में पूँजी लगाकर पूँजीपतियों, तस्करों और अपराधियों के पार्टनर बन रहे हैं।

यह अकारण नहीं है कि हर पाँच वर्षों बाद एक-एक राजनेता जब चुनावी पर्चा भरते समय अपनी सम्पत्ति की घोषणा करता है तो वह पाँच वर्षों में दस गुनी, बीस गुनी हो जाती है। पिछले चुनाव के समय मायावती ने अपनी घोषित सम्पत्ति 52 करोड़ रुपये बतायी थी। 2004 से 2008 के विधानसभा चुनावों के बीच कर्नाटक के पूर्व मुख्यमन्त्री एच. डी. कुमारस्वामी के घोषित सम्पत्ति 3.76 करोड़ से बढ़कर 49.72 करोड़ रुपये, कांग्रेसी उम्मीदवार सन्तोष लाड़ की सम्पत्ति 3.57 करोड़ से बढ़कर 56.08 करोड़ रुपये, रमेश लक्ष्मण राव जाटकिहोली की सम्पत्ति 3.57 करोड़ रुपये से बढ़कर 39.87 करोड़ रुपये और अजय कुमार सरनायक की सम्पत्ति 93 लाख रुपये से बढ़कर 21.25 करोड़ रुपये हो गयी। कहने की ज़रूरत नहीं कि यह घोषित सम्पत्ति तो कुल वास्तविक सम्पत्ति का दसवाँ भाग भी नहीं होती। सम्पत्ति का बड़ा हिस्सा तो काला धन, बेनामी सम्पत्ति, गहने-जवाहरात, रिश्तेदारों के नाम पर रखी गयी सम्पत्ति और भरोसमन्द लोगों के नाम पर व्यापार-धन्धों में लगाये गये धन के रूप में होता है। शीर्षस्थ कांग्रेसी नेताओं और प्रान्तीय क्षत्रपों से लेकर मुलायम सिंह, लालू प्रसाद, रामविलास पासवान इन सभी पर यह बात लागू होती है। यह आश्चर्य की बात नहीं कि राजनेताओं और अफ़सरों के ऐयाशी और फ़िज़ूलख़र्ची के क़िस्से पुराने राजाओं-महाराजाओं-नवाबों को भी मात देते हैं। आश्चर्य नहीं कि सरकारें बनाने-गिराने के खेल में करोड़ों और अरबों के लेन-देन की चर्चा अक्सर सुनने में आती रहती है।

अख़बार के पन्नों पर भ्रष्टाचार के ख़िलाफ़ गाँधीवादी क़िस्म का अरण्यरोदन और विधवा-विलाप जारी रहता है। फिर जो बुद्धिजीवी सत्ता की मलाई जूठन के तौर पर भी पा जाता है वह चुप लगा जाता है। पूँजीवादी व्यवस्था के जागरूक पहरुए जब देखते हैं कि पूँजीवादी जनतन्त्र की नौटंकी सरे राह भ्रष्टाचार के गन्द की हाँडी फूटते रहने से कुछ ज़्यादा ही फूहड़ हो गयी है और व्यवस्था की असलियत सामने आ गयी है, तब वे भ्रष्टाचार पर नियन्त्रण के लिए कुछ क़दम उठाते हैं। भ्रष्टाचार निरोधक विभाग कुछ छापे मारता है, कुछ आदर्शवादी अफ़सरों को मीडिया नायक के रूप में प्रस्तुत करती है, कभी लोकपाल विधेयक लाया जाता है तो कभी भ्रष्टाचार विरोधी सख़्त क़ानून की बातें होती हैं। और फिर कुछ दिनों बाद ही सब कुछ बदस्तूर चलने लगता है।

भ्रष्टाचार पूँजीवादी समाज की सार्विक परिघटना है। जहाँ लोभ-लाभ की संस्कृति होगी, वहाँ मुनाफ़ा निचोड़ने की हवस वैधिक दायरों को लाँघकर, जैसे भी हो, दोनों हाथों से लूटने की तार्किक परिणति तक पहुँच ही जायेगी। भ्रष्टाचार पश्चिमी देशों में भी है, जापान, रूस और "बाज़ार समाजवादी" चीन में भी है। फ़र्क यह है कि समृद्ध देशों के मुक़ाबले भारत और एशिया-अफ़्रीका-लातिन अमेरिका के पिछड़े पूँजीवादी देशों में इसका चरित्र ज़्यादा नंगा, फूहड़ और बर्बर जनद्रोही है। इसका एक कारण तो यह है कि इन पिछड़े देशों में स्वयं जनता की जनवादी चेतना पिछड़ी हुई है और समाज में बुर्जुआ जनवादी मूल्यों का भी कमज़ोर आधर है। दूसरे, पश्चिमी देशों के राजनेताओं-नौकरशाहों को वैध कमाई से ही, यानी पूँजीपतियों की सेवा करने के एवज़ में क़ानूनी तौर पर प्राप्त धन से ही काफ़ी ऊँचा जीवन स्तर मिल जाता है। भारत के बुद्धिजीवी वर्ग का जो हिस्सा राजनीति या प्रशासनिक सेवा में आता है, उनमें से अधिकांश भूतपूर्व ज़मींदारों और सामन्ती कुलीनों के वारिस हैं, जो जनता की हड्डियाँ निचोड़कर रुग्ण-विलासी जीवन जीना चाहते हैं और पीढ़ियों के लिए सुख-सुविधा की गारण्टी कर लेना चाहते हैं। आम घरों के जो लोग इनकी क़तारों में शामिल हो जाते हैं, वे भी अपने जैसों का पक्ष छोड़कर धन-सम्पत्ति जुटाने में लग जाते हैं और कभी-कभी तो पुराने कुलीनों के वारिसों को भी इस मायने में पीछे छोड़ देना चाहते हैं। अवैध लूट की यही प्रक्रिया निजीकरण-उदारीकरण के दौर में अपने चरम पर जा पहुँची है।

पूँजीवादी जनवाद के सारे नाटक का सारतत्त्व यह है कि सरकारें पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी का काम करती हैं, संसद में बहसबाज़ी करने वाले जनप्रतिनिधित्व के फ्रॉड को विश्वसनीय बनाते हैं, नौकरशाही शासन और शोषण की नीतियाँ बनाने और लागू करने का काम करती है और सेना-पुलिस हर विद्रोह को कुचल देने के लिए चाक-चौबन्द रहती है। इन सभी कामों में लगे हुए लोग पूँजीपतियों के वफ़ादार सेवक होते हैं, जिनके बिना पूँजीवादी तन्त्र चल ही नहीं सकता। इन सभी को ऊँचे वेतन-भत्ता और विशेषाधिकारों के रूप में अपने काम की क़ीमत मिलती है, पर ये लोग जिस जगह पर बैठे होते हैं, वहाँ कोई भ्रम नहीं होता। ये सभी जानते हैं कि वे लुटेरों के सेवक हैं। लुटेरों के सेवक अपने मालिकों के प्रति वफ़ादार तो हो सकते हैं, पर एक सामाजिक श्रेणी के तौर पर नैतिक और सदाचारी कदापि नहीं हो सकते। इसलिए स्वामी वर्ग की चाकरी करते हुए, नीतियाँ बनाते और लागू करते हुए तथा उत्पीड़ित-शोषित जनों को भरमाते-ठगते-दबाते और कुचलते हुए जहाँ भी उन्हें मौक़ा मिलता है, उसका लाभ उठाकर अपनी जेब गर्म कर लेने से भी वे क़तई बाज़ नहीं आते। इनके दिल में यह आकांक्षा तो होती ही है कि वे भी अपने मालिकों की तरह, वैध या अवैध तरीक़े से पूँजी लगाकर मुनाफ़ा कमायें और नेताशाही-अफ़सरशाही का एक हिस्सा पूँजीवादी उपक्रमों का शेयर ख़रीदने का काम या पूँजीपतियों के कमीशन एजेण्ट का काम करने वालों में लगातार शामिल होता रहता है। शेष काला धन छुपाने, ठेका पट्टी करने, बेनामी सम्पत्ति जुटाने या पेट्रोल पम्प लेने जैसे कामों में लगा रहता है और एक ज़िला स्तर का अफ़सर और एक बार का विधेयक भी आने वाली पीढ़ियों के लिए उच्चमध्यवर्गीय जीवन की गारण्टी तो हासिल कर ही लेता है।

यूँ भी कहा जा सकता है कि पूँजीवादी समाज में सफ़ेद धन की अर्थव्यवस्था के साथ-साथ काले धन की अर्थव्यवस्था भी अनिवार्यत: मौजूद रहती है जो पूँजीपतियों को अवैध कमाई का मौक़ा देने के साथ ही नेताओं-अफ़सरों सहित तमाम परजीवी वर्गों को लूटने-खसोटने के अवसर उपलब्ध कराती है। भ्रष्टाचार और काली कमाई शुरू से ही पूँजीवादी संचय-प्रक्रिया के अभिन्न अंग के रूप में मौजूद रहे हैं। पूँजीपति वर्ग ने पूँजीवादी व्यवस्था के उद्भव और विकास के दौर में नियम-क़ानूनों का ऐसा तन्त्र तैयार किया है जिससे बढ़ता भ्रष्टाचार पूँजीवादी शोषण की पूरी प्रणाली के सुचारू संचालन में बाधक न बने और पूँजीवादी जनवादी आदर्शों से जनता विमुख न हो। फिर भी चूँकि आपस में होड़रत पूँजीपति स्वयं भी भ्रष्टाचार को शोषण और संचय के एक माध्यम के रूप में इस्तेमाल करते थे, इसलिए राजनीतिक तन्त्र और नौकरशाही में भ्रष्टाचार का संक्रमण समय-समय पर गम्भीर हो जाना लाज़िमी था और यही होता रहा है।

मौजूदा नवउदारवादी दौर ने तमाम बुर्जुआ जनवादी मूल्यों-आदर्शों करे खुद ही छिलके की तरह पूँजीवाद के शरीर से उतार फेंका है। सबकुछ बाज़ार की शक्तियों के हवाले करने और "कल्याणकारी राज्य" के दौर के पटाक्षेप के बाद सरकारें एकदम खुले रूप में पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी बन चुकी हैं। हर प्रकार की कमीशनख़ोरी, दलाली, लेनदेन, घूस – सबकुछ पूँजी के 'खुला खेल फ़र्रुख़ाबादी' का स्वाभाविक हिस्सा माना जाने लगा है। नेताओं, अफ़सरों, दलालों और पेशेवर अपराधियों तक के बीच न केवल खुले गँठजोड़ बन चुके हैं, बल्कि उनके बीच की विभाजक रेखाएँ भी मिट चुकी हैं। आज का पूँजीवाद जिस तरह असाध्य ढाँचागत आर्थिक संकट का शिकार है, उसी तरह वह राजनीतिक-सांस्कृतिक और नैतिक संकट का भी शिकार है। भ्रष्टाचार इसी की एक अभिव्यक्ति है, परिणाम है और लक्षण है।

इस लेख में हमारी चर्चा का विषय केवल भारत की पूँजीवादी राजनीतिक प्रणाली में व्याप्त भ्रष्टाचार ही नहीं है। हमने शुरुआत इस चर्चा से की थी कि भारत में मन्त्रियों, जनप्रतिनिधियों पर किस तरह सालाना खरबों रुपये एकदम फ़ालतू ख़र्च होते हैं और भारत का विशालकाय पूँजीवादी जनवादी संसदीय राजनीतिक ढाँचा किस क़दर फ़िज़ूलख़र्च और परजीवी है, कितना बर्बर-मानवद्रोही है और आज के पतनशील पूँजीपति वर्ग के राजनीतिक प्रतिनिधि स्वयं कितने भ्रष्ट और विलासी हैं!

यह पूरा विवरण एक स्वयंसिद्ध प्रमेय है जो बताता है कि यह पूरी व्यवस्था सिर से पाँव तक सड़ चुकी है और मेहनतकश वर्ग के सामने एकमात्र विकल्प यही है कि वह पूँजीवादी संसदीय जनवाद की इस ख़र्चीली धोखाधड़ी और लूटतन्त्र को सिरे से ख़ारिज कर दे। और इतिहास बताता है कि ऐसा ही होगा। विगत मज़दूर क्रान्तियों की हार अन्तिम नहीं थी। इतिहास का अभी अन्त नहीं हुआ है। बल्कि इतिहास की असली शुरुआत तो तब होगी जब निर्णायक मज़दूर क्रान्तियाँ पूँजीवाद की शवपेटिका को क़ब्र में उतार देंगी। एक ऐसा समाज जिसमें उत्पादन, राजकाज और समाज के ढाँचे पर उत्पादन करने वाले वर्ग क़ाबिज़ होंगे, उसमें जनप्रतिनिधित्व की ऐसी प्रणाली होगी ही नहीं, जिसमें संसद सदस्य और विधयकों के चुनाव में अरबों-खरबों ख़र्च हों और अरबों-खरबों उन्हें वेतन-भत्ते और विलासिता के ख़र्च के तौर पर दिये जायें और फिर उन्हें अरबों-खरबों की काली कमाई का भी मौक़ा दिया जाये। मेहनतकशों द्वारा क़ायम नया समाजवादी जनवाद पूँजीवादी जनवाद से इस मायने में भिन्न होगा कि उसमें चुनाव नाममात्र के ख़र्चे का काम होगा। आम जनता सामूहिक, राजकीय और सहकारी फ़ार्मों और कारख़ानों के बुनियादी स्तर से अपने प्रतिनिधियों के निकायों का चुनाव करेगी और फिर उनसे ऊपर के निकायों के प्रतिनिधि चुने जायेंगे। यह क्रम केन्द्रीय स्तर तक जायेगा। छोटे निर्वाचक मण्डल (चुनाव क्षेत्र) होने के कारण चुनाव प्रचार का ख़र्च नगण्य होगा और चुनाव में पैसे की वैध-अवैध भूमिका समाप्त हो जायेगी। हर नागरिक को चुनने और चुने जाने का अधिकार होगा। जनता को बहुमत से चुने हुए प्रतिनिधि को वापस बुलाने का भी अधिकार होगा। जनप्रतिनिधियों के निकाय किसी भी स्तर पर बहसबाज़ी के अड्डे मात्र नहीं होंगे। सरकार यानी कार्यपालिका के काम और संसद यानी विधायिका के काम को वे एक साथ सम्पन्न करेंगे। नौकरशाही का काम भी चुने हुए जनप्रतिनिधियों के निकाय ही करेंगे। नेताओं का कोई स्वतन्त्र पेशा नहीं होगा। वे आम उत्पादक वर्गों के बीच के लोग होंगे और उनका वेतन और जीवन स्तर भी उन्हीं जैसा होगा। चूँकि कारख़ानों, फार्मों आदि पर निजी मालिकाना नहीं होगा, व्यापारिक उपक्रम भी एक प्रक्रिया से गुज़रकर, सामाजिक स्वामित्व में आ जायेंगे और शेयर बाज़ारों का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा, इसलिए मुनाफ़ा कमाने की गुंजाइश समाप्त होने के साथ ही कमीशनख़ोरी, घूस और दलाली का भी उन्मूलन हो जायेगा। तय है कि ये सारी चीज़ें जनक्रान्ति के बाद अचानक नहीं बल्कि एक प्रक्रिया में अस्तित्व में आयेंगी। पर राजनीतिक ढाँचे का चरित्र और विकास की आम दिशा ऐसी ही होगी।

कल्पना कीजिये कि सिर्फ़ परजीवी पूँजीवादी नेताशाही और नौकरशाही की समाप्ति के साथ ही सामाजिक सम्पदा का कितना अकूत अम्बार सार्वजनिक निर्माण भी पूँजी के तौर पर और कल्याणकारी कामों के लिए हासिल हो जायेगा। पूँजीपतियों और साम्राज्यवादियों की परिसम्पत्तियों और पूँजी को अलग रख दें, तो सिर्फ़ नेताओं, नौकरशाहों और काली कमाई पर पनपे तमाम परजीवियों की अकूत धन सम्पदा मज़दूर क्रान्ति के बाद भारत में एक या दो पंचवर्षीय योजनाएँ या विराट निर्माण-परियोजनाएँ संचालित की जा सकती हैं। देशभर के मठों-मन्दिरों के पास जमा अकूल सम्पदा से सार्वजनिक शिक्षा और स्वास्थ्य की देशव्यापी व्यवस्था निर्मित की जा सकती है। देशभर के परजीवी हर वर्ष जो वैध-अवैध धन-सम्पत्ति इकट्ठा करते हैं, उसे भी वे मेहनतकश ही पैदा करते हैं जो तमाम सामाजिक सम्पदा के निर्माता होते हैं। एक आम मज़दूर यह अनुमान भी नहीं लगा पाता कि वह कितना कुछ पैदा करता है और उसका कितना छोटा हिस्सा उसे हासिल होता है। मज़दूरों के सच्चे क्रान्तिकारी नेतृत्व का दायित्व है कि मज़दूरों को इस सच्चाई से अवगत कराये। चीज़ों को बदलने के लिए चीज़ों को जानना ज़रूरी है। पूँजीवादी व्यवस्था के हर पहलू से मज़दूर वर्ग को परिचित कराना होगा। पूँजीवादी जनवाद की असलियत को नंगा करने के लिए चुनाव प्रणाली, संसद, मन्त्रियों और जनप्रतिनिधियों पर होने वाले भयंकर ख़र्च की तथा नेताओं-अफ़सरों की काली कमाई और विशेषाधिकारों की यहाँ एक तस्वीर उपस्थित की गयी है। इसी तरह हमें व्यवस्था के हर पहलू को समझना होगा ताकि विकल्प के खाके पर सोचा-विचारा जा सके।

●

बराक ओबामा : अमेरिकी साम्राज्यवाद का नया चेहरा, नयी ज़रूरत

हाल ही में अमेरिकी राष्ट्रपति चुनावों में एक अश्वेत उम्मीदवार बराक ओबामा की विजय के साथ दुनियाभर का पूँजीवादी मीडिया एक बार फिर अमेरिकी जनतन्त्र की महिमा में लहालोट हो गया। भारत के भी तमाम अख़बार बराक ओबामा के पूरे जीवन के ऊपर बड़े-बड़े लेख देने लगे। ओबामा के बचपन से लेकर आज तक की पूरी कहानी के बारे में हमें अवगत कराया गया। बताया जाने लगा कि ओबामा के राष्ट्रपति बनने के साथ यह साबित हो गया कि अमेरिका वास्तव में एक महान जनतन्त्र है। यह उम्मीद भी प्रकट की गयी कि ओबामा के चुने जाने के साथ ही अश्वेतों के प्रति होने वाले भेदभाव में कमी आयेगी। चूँकि ओबामा इराक़ युद्ध को बुश प्रशासन की ग़लती बताते हुए सत्ता में आया है इसलिए यह भी उम्मीद की जा रही है ओबामा के राष्ट्रपति बनने के साथ ही अमेरिकी द्वारा दुनिया के तमाम देशों पर युद्ध थोपे जाने की प्रवृत्ति में कमी आयेगी। ऐसे में, दुनियाभर के मज़दूर वर्ग के लिए यह समझना ज़रूरी है कि ओबामा वास्तव में किन सिद्धान्तों और मूल्यों के लिए प्रतिबद्ध है और उसके वायदे और योजनाएँ क्या हैं?

प्रसिद्ध लेखक जॉन रीड ने कहा था कि अमेरिकी मज़दूर वर्ग राजनीतिक रूप से दुनिया का सबसे असचेत मज़दूर वर्ग है। इस तथ्य की सच्चाई अमेरिकी राष्ट्रपति चुनावों में साफ़ तौर पर नज़र आती है। ये चुनाव अमेरिका के आम नागरिकों के लिए डब्ल्यू.डब्ल्यू.एफ़. कुश्ती जितना ही मनोरंजक होता है। चारों तरफ़ जश्न का माहौल होता है, भावनाएँ सड़कों पर बह रही होती हैं, उम्मीदवारों के भाषण सुनकर लोग हर्षोन्माद में आ जाते हैं, बेहोश हो जाते हैं और आँसू बहाते हैं। इस बार भी लोग इस उम्मीद में ओबामा के चुनाव भाषणों को सुनने के लिए भारी संख्या में चुनाव रैलियों में आये कि बुश काल की भयंकरताओं से निजात पाने का एक रास्ता निकल आया है। बुश काल के आर्थिक संकट, अश्वेत दमन, जनवादी अधिकारों के ख़ात्मे, मज़दूरों के शोषण-उत्पीड़न आदि से मुक्ति दिलाने वाले मसीहा के रूप में दुनियाभर का मीडिया ओबामा को पेश करने लगा। जल्दी ही ओबामा हीरो बन गया और तरह-तरह के नये शब्द ईजाद होने लगे, जैसे "ओबामेनिया", "ओबामैडनेस" आदि। ओबामा ने अपने चुनावों में "उम्मीद" और "परिवर्तन" की काफ़ी बातें कीं। इन शब्दो के आते ही अमेरिकी लोग पागल हो जाते हैं। ऐसे में वे उन शब्दों को ठीक से सुन ही नहीं पाते हैं कि ओबामा वास्तव में वायदा किन चीज़ों का कर रहा है।

ओबामा ने अमेरिका की विदेश नीति, अश्वेतों के प्रति अपने नज़रिये को अभिव्यक्त करते हुए क्या कहता है इससे ही उसकी मंशा और इरादा स्पष्ट हो जाते हैं। ओबामा ने अपनी तमाम चुनाव रैलियों में अपने रिपब्लिकन प्रतिद्वन्द्वी मैककेन को जवाब देते कहा कि आतंकवाद के ख़िलाफ़ लड़ने में वे क़तई नरम नहीं हैं। बस वह यह मानते हैं कि बुश का तरीक़ा ग़लत और मूर्खतापूर्ण था। ओबामा ने कहा कि वे अफ़ग़ानिस्तान में और बड़ी संख्या में अमेरिकी सेना को भेजने के पक्षधर हैं। उसने खुले तौर पर इज़रायल को संरक्षण देने और उसे सैन्य सहायता देने का वायदा किया और अमेरिकी यहूदी पूँजीपतियों की एक बैठक में इज़रायल के प्रति अपनी प्रतिबद्धता ज़ाहिर की। ओबामा ने धृष्टता की हद तक जाते हुए यहाँ तक कह डाला कि अमेरिका को पाकिस्तान पर हमला कर देना चाहिए। उसने ईरान से और कड़ाई से निपटने और उसके ऊपर हर सम्भव आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने की हिमायत करने के साथ ही यह भी कहा कि ज़रूरत पड़ी तो ईरान पर हमला भी किया जायेगा। इराक़ पर अपने पहले के कथन को बदलते हुए ओबामा ने बाद में यह कहा कि वह इराक़ के मसले पर अमेरिकी सैन्य जनरलों की राय से चलेगा और वह इस बात का पक्षधर नहीं है कि इराक़ से सेना जल्दी बुलायी जाये।

ग़ौरतलब है कि जनवादी अधिकारों के हिमायती के तौर पर प्रचारित यही ओबामा है जिसने कुख्यात 'पैट्रियट क़ानून' के पक्ष में वोट डाला था। ज्ञात हो कि पैट्रियट क़ानून भारत के कुख्यात पोटा और टाडा से भी ज़्यादा फ़ासिस्ट क़ानून है जो वहाँ की आम मेहनतकश आबादी के सभी जनवादी अधिकारों को निलम्बित करने की ताक़त रखता है। यह अमेरिका की सरकार को यह ताक़त देता है कि वह टेलीफ़ोन व इण्टरनेट कम्पनियों के द्वारा लोगों के घर की जासूसी कर सकती है, लोगों को महज़ शक की बिनाह पर हिरासत में ले सकती है और दमन कर सकती है।

ओबामा की विजय को ख़ास तौर पर रंगभेद और नस्लवाद के ख़ात्मे के तौर पर प्रोजेक्ट किया जा रहा है। इस दावे की सच्चाई की पड़ताल ज़रूरी है। ओबामा ने अपने किसी भी भाषण में अश्वेतों के बीच की दुगुनी बेरोज़गारी दर पर कोई बात नहीं कही; न ही चिकित्सा सुविधाओं, आवास और क़ानूनी धरातल पर अश्वेतों के ख़िलाफ़ होने वाले भेदभाव पर ही कुछ बोला, बल्कि यह सफ़ेद झूठ बोला कि ऐसा भेदभाव होता ही नहीं है। ओबामा ने अपने पूर्व मन्त्री जेरेमियाह व्हाइट के उस कथन का विरोध किया जिसमें उन्होंने कहा था कि पूरी अमेरिकी सभ्यता, समृद्धि और चमक-दमक के नीचे अश्वेतों के बर्बर शोषण-उत्पीड़न की कहानी है। ओबामा ने कहा कि यह कथन राष्ट्र को "बाँटने" का काम करेगा और अमेरिका एक है। यह एक नये क़िस्म की राष्ट्रवादी कट्टरता को बढ़ावा देते हुए असुविधाजनक सच्चाइयों पर पर्दा डालना है।

ओबामा अच्छा वक्ता माना जाता है। अपने विजय भाषण में उसने उसी क़िस्म की बातें कीं जैसी कि तमाम पहले के अमेरिकी राष्ट्रपति अपने विजय भाषणों में कर चुके हैं। इन बातों में कोई ख़ास बात नहीं होती लेकिन उन्हें सुनकर अमेरिकी जनता को सनसनी हो जाती है और उनके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। यही हाल भारत के अमेरिकी-परस्त नवधनाढ्य वर्ग का भी होता है। ओबामा ने कहा "अमेरिका में सबकुछ सम्भव है!" आइये देखें कि अमेरिका में अब तक क्या-क्या सम्भव हुआ है।

अमेरिकी के जन्म के पीछे यूरोपीय उपनिवेशवादियों द्वारा अमेरिका की मूल आबादी का बर्बर और इतिहास के क्रूरतम कत्लेआम में से एक जनसंहार है। अमेरिका में अफ़्रीका से लाखों अश्वेतों को अगवा करके उनसे 250 वर्षों तक गुलामी कराना सम्भव है। गुलामी ख़त्म होने के बाद अन्य तरीकों से इन अश्वेतों का और भयंकर शोषण और उत्पीड़न करते रहना सम्भव है। अमेरिका में दुनियाभर के देशों पर सबसे अमानवीय और क्रूर युद्ध थोपा जाना और करोड़ों आम लोगों का नरसंहार सम्भव है, जो कि इतिहास के क्रूरतम साम्राज्यों ने भी नहीं किया है। और इन सबके बावजूद अमेरिकी में यह सम्भव है कि अमेरिका को विश्व की सुरक्षा और शान्ति का सबसे बड़ा पहरेदार बताया जाये!! अमेरिका में दुनियाभर की मेहनतकश जनता को अमेरिकी साम्राज्यवादी पूँजी की अधीनता के तहत लाना और उनके शरीर से ख़ून की एक-एक बूँद निचोड़ना सम्भव है। इन आश्चर्यजनक सम्भावनाओं के बारे में महाशय ओबामा चुप्पी साधे रहते हैं। बल्कि इन महान "सम्भावनाओं" पर वे पर्दा डालने का काम करते हैं। साथ ही यह बता देना भी अच्छा होगा कि अमेरिका में क्या सम्भव नहीं है।

अमेरिका में जनतन्त्र के तमाम दावों के बावजूद आज तक अश्वेतों के विरुद्ध भेदभाव को ख़त्म कर पाना सम्भव नहीं हो पाया है; अमेरिका में दुनियाभर के देशों में सेनाएँ, जासूस और कमाण्डो भेजकर दमन करने को रोक पाना सम्भव नहीं हो पाया है; अमेरिका द्वारा इराक़, अफ़ग़ानिस्तान और तमाम देशों में मासूम लोगों की हत्याओं को रोक पाना सम्भव नहीं हो पाया है; अमेरिका में अमेरिकी पूँजी द्वारा पूरी पृथ्वी की प्रकृति का नाश रोक पाना सम्भव नहीं हो पाया है। इन "असम्भावनाओं" के बारे में भी ओबामा जी चुप रहते हैं। ओबामा यह नहीं बताते कि साम्राज्यवादी लूट की पूरी व्यवस्था में आप किसी अन्य चीज़ की उम्मीद भी नहीं कर सकते। वह अमेरिकावाद को नये तौर पर इज़्ज़त देने की कोशिश करते हुए अमेरिकी राष्ट्र और उसके इतिहास और जनतन्त्र के गुण गाता है।

ओबामा अपनी किताब 'ऑडैसिटी ऑफ होप' में कहता है कि नस्लवाद, रंगभेद और राष्ट्रीय उत्पीड़न अमेरिका में कम हुआ है। अश्वेत उत्पीड़न की अधिक बात नहीं की जानी चाहिए क्योंकि यह अमेरिकी राष्ट्र की एकता को तोड़ता है। ओबामा यह बात छिपाते हैं कि अमेरिकी समाज कई वर्गों में बँटा हुआ समाज है और जब तक आर्थिक और सामाजिक समानता नहीं आती तब तक अमेरिकी राष्ट्र की एकता की बात करना एक लफ़्फ़ाज़ी है। आइये, अश्वेतों के हालात पर एक निगाह डालें। अश्वेत परिवारों की औसत आय श्वेत परिवारों की औसत आय की तुलना में दस गुना कम है! सरकारी रिपोर्ट के अनुसार अश्वेत परिवारों की औसत आय 6,166 डॉलर है जबकि श्वेत परिवारों की औसत आय 67,000 डॉलर है। यह अन्तर उतना ही है जितना कि यह 1990 में था। यानी कोई बेहतरी नहीं। 25 से 29 वर्ष के हर 9 अश्वेत नौजवानों में से एक जेल में है। अश्वेतों के बीच बाल मृत्यु दर 13.6 प्रति हज़ार है जबकि श्वेतों में यह 5.7 प्रति हज़ार है। कैटरीना तूफ़ान के बाद अश्वेत बहुत न्यू ऑर्लियंस के इलाक़े में राहत कार्यों में अश्वेतों के प्रति जो भेदभाव किया गया वह पूरे विश्व में ही मुद्दा बना और बुश के ऊपर सवाल उठाये गये। वहाँ अमीरज़ादों के सैरगाहों और लक्ज़री नावें बनाने में 2,130 लाख डॉलर ख़र्च कर दिये गये। ओबामा का कहना था कि बुश प्रशासन ने अश्वेतों के साथ कोई भेदभाव नहीं किया, बल्कि वह पूरी आपदा से ही निपटने में विफल रहा। इसमें अश्वेतों और श्वेतों के बीच भेदभाव का कोई मामला नहीं था।

ओबामा का चुना जाना अमेरिकी पूँजीपति वर्ग की ज़रूरत थी। यह आज के समय में उसकी मजबूरी थी। और पूरे अमेरिकी इतिहास में ही रिपब्लिकन और डेमोक्रैट राष्ट्रपति बारी-बारी से आते रहे हैं और समय की ज़रूरतों को पूरा करते रहे हैं। बुश के पूरे शासन काल में अमेरिकी मज़दूर वर्ग और आम जनता में रोष बढ़ा है। इसका कारण एक तरफ़ तो देश के भीतर बढ़ती बेरोज़गारी, आर्थिक संकट, ग़रीबी, और उत्पीड़न था तो दूसरी तरफ़ इराक़ और अफ़ग़ानिस्तान में थोपा गया युद्ध। ऐसे में अमेरिकी पूँजीपति को राज्य द्वारा मदद की ज़रूरत थी, थोड़ा लगाम कसने और विनियमन करने की आवश्यकता थी, थोड़ा कल्याणकारी राज्य की ज़रूरत थी। ऐसे कामों के लिए जैसे नरम चेहरे की ज़रूरत थी वह डेमोक्रैट पार्टी से ही मिल सकता था। इसलिए इस बार बारी डेमोक्रैटों की थी। चाहे ओबामा होता या कोई और – विजय डेमोक्रैटों की ही होती। ओबामा के आने से एक अतिरिक्त फ़ायदा यह मिला कि अमेरिकी जनतन्त्र के चेहरे पर पड़ी नस्लवाद और रंगभेदवाद की झाँइयों पर थोड़ा-सा पर्दा पड़ गया। लोगों को यह भ्रम हो चला कि ओबामा अश्वेतों का प्रतिनिधि है। ओबामा अश्वेतों या श्वेतों का प्रतिनिधि नहीं है। वह अमेरिकी पूँजीपति वर्ग का प्रतिनिधि है और उसकी आज की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए पूँजीपतियों ने उसे सत्ता में बिठाया है। पूँजीवादी चुनावों में विजय उसी की होती है जिसे पूँजीपतियों का समर्थन हासिल होता है। ओबामा मज़दूर वर्ग का उतना ही बड़ा शत्रु है जितना कि बुश। बस चेहरा अलग है। जब भी देश में असन्तोष बढ़ता है, ग़रीबी-बेरोज़गारी बढ़ती है, और लूट बढ़ती है तो पूँजीपति वर्ग ऐसी ही कोई चाल चलता है जिससे कि मज़दूरों को भ्रमित किया जा सके। ओबामा का राष्ट्रपति बनना इसी की एक निशानी है। पहले भी 1960 और 1970 के दशक में अश्वेतों के प्रतिरोध आन्दोलनों के कारण अमेरिकी पूँजीपति वर्ग ने अश्वेतों के बीच से कुछ लोगों को उच्च पदों पर बिठाया। लेकिन ये मुट्ठीभर अश्वेत अमेरिकी पूँजीवादी व्यवस्था की सेवा श्वेत पूँजीपतियों और उनके नौकरों से भी बेहतर तरीक़े से करते हैं। आप फ़िलाडेल्फ़िया के पूर्व गवर्नर विल्सन गुड का उदाहरण दे सकते हैं जिसने 1980 के दशक में एक अश्वेत इलाक़े पर बमबारी का आदेश दिया था जिसमें 11 अश्वेत मारे गये थे और 61 घर तबाह हो गये थे। कोलिन पावेल, कोण्डोलिज़ा राइस और क्लेयरेंस थॉमस ने क्या गुल खिलाया है, सभी जानते हैं।

ओबामा जैसे लोग व्यवस्था से मोहभंग होने से अस्थायी तौर पर बचाने का काम करते हैं और इस तरीक़े से पूँजीवादी व्यवस्था की दूरगामी सेवा करते हैं। ओबामा की विदेश नीति बुश से बिल्कुल भिन्न नहीं है बल्कि ज़्यादा ख़तरनाक है। वह इराक़ में 50,000 अमेरिकी सैनिकों को छोड़कर बाक़ी सैनिकों को अफ़ग़ानिस्तान में लगाना चाहता है और उसने पाकिस्तान पर हमले की बात भी कही है। ओबामा ने कहा है अमेरिकी सेना का आकार बढ़ाया जाना चाहिए। इसमें उसने 65,000 और सैनिकों और 27,000 मरीन सैनिकों को शामिल करने का वायदा किया है। वह युद्ध-विरोधी क़तई नहीं है। वह इराक़ युद्ध की आलोचना लाभ-हानि विश्लेषण के रूप में करता है। वह इराक़ युद्ध को एक अन्यायपूर्ण और बर्बर-अमानवीय क़दम नहीं मानता है। वह मानता है कि अमेरिकी साम्राज्यवाद को इससे कोई ख़ास लाभ नहीं हुआ और बुश मूर्ख है। ईरान के बारे में उसने कहा है कि अमेरिकी पूँजी के हितों की सेवा के लिए वह अमेरिकी शक्ति के हर रूप का उपयोग करेगा। विदेश नीति में ओबामा उतना ही नरसंहारी साबित होगा जितना कि बुश हुआ है। जब क्लिण्टन युद्ध-विरोध की बात करते हुए बड़े बुश के बाद सत्ता में आया था तब भी यही कहा गया था कि अब अमेरिका उतना आक्रामक नहीं होगा लेकिन क्लिण्टन काल में भी इराक़ पर जब-तब बमबारी जारी रही और नाटो के नाम पर अमेरिकी सैन्यवाद दुनियाभर में क़त्ले-आम मचाता रहा।

ओबामा का आना कोई व्यवस्थागत बदलाव नहीं है जैसा कि मीडिया प्रचारित करने में लगा हुआ है। यह बस मुखौटे का परिवर्तन है। अमेरिकी साम्राज्यवाद के हित में जो भी ज़रूरी होगा उसे करने में ओबामा कहीं भी पीछे नहीं हटने वाला है। स्पष्ट है कि ओबामा अमेरिकी पूँजीवाद-साम्राज्यवाद की और कुशलता से सेवा करेगा।

– अभिनव

बिगुल पुस्तिकाएँ

1.	**कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन और उसका ढाँचा**	लेनिन	5.00
2.	**मकड़ा और मक्खी**	विल्हेल्म लीब्कनेख़्त	3.00
3.	**ट्रेडयूनियन काम के जनवादी तरीक़े**	सेर्गेई रोस्तोवस्की	3.00
4.	**मई दिवस का इतिहास**	अलेक्ज़ैण्डर ट्रैक्टनबर्ग	5.00
5.	**पेरिस कम्यून की अमर कहानी**		10.00
6.	**अक्टूबर क्रान्ति की मशाल**		12.00
7.	**जंगलनामा : एक राजनीतिक समीक्षा**	डॉ. दर्शन खेड़ी	6.00
8.	**लाभकारी मूल्य, लागत मूल्य, मध्यम किसान और छोटे पैमाने के माल उत्पादन के बारे में मार्क्सवादी दृष्टिकोण : एक बहस**		30.00
9.	**संशोधनवाद के बारे में**		5.00
10.	**शिकागो के शहीद मज़दूर नेताओं की कहानी**	हावर्ड फ़ास्ट	10.00
11.	**मज़दूर आन्दोलन में नयी शुरुआत के लिए**		15.00
12.	**मज़दूर नायक, क्रान्तिकारी योद्धा**		10.00

प्रकाशक : राहुल फाउण्डेशन

मँगाने के लिए सम्पर्क करें:

जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

फोन : 0522-2786782, ईमेल: janchetna@rediffmail.com

अक्टूबर क्रान्ति के दिनों की वीरांगनाएँ

अलेक्सान्द्रा कोल्लोन्ताई

वे कौन नारियाँ थीं, जिन्होंने महान अक्टूबर क्रान्ति में हिस्सा लिया था? क्या वे अलग-अलग व्यक्ति थीं? नहीं, उनकी संख्या बहुत बड़ी थी; दसियों, सैकड़ों-हज़ारों अनाम नायिकाएँ जिन्होंने लाल झण्डे और सोवियतों के नोरे के पीछे मज़दूरों ओर किसानों के कन्धे से कन्धा मिलाकर मार्च करते हुए धर्मकेन्द्रित ज़ारशाही के ध्वंसावशेषों के ऊपर से गुज़रकर एक नूतन भविष्य में प्रवेश किया...।

यदि कोई पीछे मुड़कर अतीत पर नज़र डाले तो वह उन्हें देख सकता है – इन अनाम नायिकाओं की आबादी को, जिन्हें अक्टूबर ने भूख से मरते शहरों और लड़ाई में लूटे गये ग़रीब गाँवों में पाया था... सिर पर रूमाल बाँधे (हालाँकि इनमें लाल रूमाल अभी बहुत कम ही थे), घिसा हुआ घाघरा और रूई भरा जाड़े का जैकेट पहने... जवान और वृद्ध, मज़दूरिनें और सिपाहियों की पत्नियाँ, किसान औरतें और शहर के ग़रीबों की गृहणियाँ। इनमें दफ़्तरों में काम करने वाली या अन्य पेशों में लगी औरतें, शिक्षित और सुसंस्कृत औरतें कम, ख़ासतौर पर इन दिनों में, बहुत ही कम थीं। लेकिन लाल झण्डे को अक्टूबर की विजय तक पहुँचाने वालों में बुद्धिजीवी वर्ग से आई नारियाँ भी थीं – अध्यापिकाएँ, दफ़्तरों में काम करने वाली स्त्रियाँ, हाई स्कूलों और विश्वविद्यालयों की तरुण छात्राएँ, चिकित्सकाएँ। वे खुशी-खुशी, नि:स्वार्थ भाव से और निश्चित उद्देश्य के साथ चलती गयीं। जहाँ भी उन्हें भेजा गया, वे गयीं। मोर्चे पर? उन्होंने सिपाही की टोपी लगायी और लाल सेना की योद्धा बन गयीं। अगर उन्होंने बाँहों पर लाल पट्टियाँ लगा लीं तो वे गात्विना (लेनिनग्राद के पास का एक उपनगर) में केरेन्सकी के विरुद्ध लाल सेना की मदद के लिए प्राथमिक चिकित्सा स्टेशनों की ओर लपक रही होती थीं। वे सेना की संचार व्यवस्था में काम करती थीं। वे बेहद ज़िन्दादिली के साथ काम करती थीं। इस विश्वास से भरी हुई कि कोई भारी महत्त्व की चीज़ घटित हो रही है और हम सब क्रान्ति की एक ही श्रेणी के छोटे-छोटे पुर्जे हैं।

गाँवों में किसान औरतों ने, जिनके पति मोर्चे पर भेज दिये गये थे, भूस्वामियों से ज़मीन छीन ली और अभिजातों को उनके घोंसलों से बाहद खदेड़ दिया जिनमें वे सदियों से पल रहे थे।

जब भी अक्टूबर की घटनाओं का स्मरण किया जाता है तो अलग-अलग चेहरे नहीं, बल्कि जनसमूह दिखायी पड़ते हैं। असंख्य जनसमूह, मानवता की लहरों की तरह। पर जहाँ भी नज़र डाली जाये औरतें दिखायी देती हैं – बैठकों में, सभाओं में, प्रदर्शनों में...। अभी वे निश्चित नहीं है कि वे ठीक-ठीक क्या चाहती हैं, किसके लिए वे प्रयासरत हैं। लेकिन वे एक चीज़ जानती हैं : वे अब युद्ध को और बर्दाश्त नहीं करेंगी। और न ही वे भूस्वामियों और अमीरों को चाहती हैं... 1917 के वर्ष में मानवता का महासमुद्र उफनता और हिलोरें लेता है, और उस महासमुद्र का एक भारी हिस्सा औरतों से बना हुआ है...

एक दिन इतिहासकार क्रान्ति की उन अनाम नायिकाओं के कारनामों के बारे में लिखेगा जो मोर्चे पर मारी गयीं, जिन्हें श्वेत गार्डों ने गोली से उड़ा दिया, जिन्होंने क्रान्ति के बाद आने वाले पहले वर्षों के अनगिनत अभावों को झेला लेकिन सोवियत सत्ता और कम्युनिज़्म के लाल निशान को ऊँचा उठाये रखा। इन्हीं अनाम नायिकाओं के प्रति, जो मेहनतकश लोगों के लिए एक नया जीवन हासिल करने के लिए अक्टूबर क्रान्ति के दौरान शहीद हुईं, युवा गणतन्त्र सम्मान में अपना सिर झुकाता है, जबकि इसके ज़िन्दादिल और उत्साही युवा लोग समाजवाद के आधारों के निर्माण में लग रहे हैं।

परन्तु स्कार्फ़ों और घिसी टोपियों से ढँके औरतों के सिरों के इस समुद्र में से अनिवार्यत: उन लोगों की छवियाँ उभरती हैं जिन पर इतिहासकार विशेष ध्यान देगा जब आज से कई साल बाद वह महान अक्टूबर क्रान्ति और इसके नेता लेनिन के बारे में लिखेगा।

सबसे पहले जो छवि उभरती है, वह है लेनिन की वफ़ादार संगिनी **नादेज़्दा कोन्स्तान्तिनोव्ना क्रूप्सकाया** की – अपनी सादी, स्लेटी पोशाक पहने हुए, हमेशा पृष्ठभूमि में रहने का प्रयास करते हुए। वे बिना किसी का ध्यान आकर्षित हुए, चुपचाप, किसी बैठक में प्रवेश कर जातीं और किसी खम्भे के पास खड़ी हो जातीं। पर वे एक-एक चीज़ देखती और सुनती थीं, जो कुछ भी हो रहा होता, उसका अध्ययन करते हुए, ताकि फिर वे व्लादीमिर इलिच को पूरा विवरण दे सकें, अपनी सटीक टिप्पणियाँ जोड़ सकें और कोई युक्तिपूर्ण, उपयुक्त और उपयोगी विचार सुझा सकें। उन दिनों नादेज़्दा कोन्स्तान्तिनोव्ना उन ढेरों तूफ़ानी बैठकों में नहीं बोलती थीं जिनमें लोग इस महान प्रश्न पर बहस करते थे कि सोवियत सत्ता जीतेगी या नहीं? परन्तु वे अनथक रूप से व्लादीमिर इलीच के दाहिने हाथ की तरह काम करती थीं और कभी-कभी पार्टी बैठकों में कोई संक्षिप्त पर प्रभावकारी वक्तव्य देती थीं। भयंकर विपत्ति और ख़तरे के क्षणों में भी, जब अनेक मज़बूत कॉमरेड हिम्मत हार बैठे और संशय के शिकार हो गये, नादेज़्दा कोन्स्तान्तिनोव्ना हमेशा वैसी ही बनी रहीं – लक्ष्य की सत्यता और इसकी निश्चित विजय के प्रति पूर्ण आश्वस्त। वे अडिग आस्था का स्रोत थीं, ओर जो कोई भी अक्टूबर क्रान्ति के महान नेता की इस सहचरी के सम्पर्क में आता था, उस पर विनम्रता के आवरण में ढँकी व्यक्तित्व की यह दृढ़ता हमेशा ही एक स्फूर्तिदायक प्रभाव छोड़ती थी।

एक दूसरी छवि उभरती है – और वह है लेनिन की एक और वफ़ादार साथी, भूमिगत कार्य के कठिन वर्षों की विश्वस्त दोस्त, पार्टी की केन्द्रीय समिति की सेक्रेटरी – **येलेना द्मीत्रियेव्ना स्तासोवा** की। स्पष्ट, बुद्धिमत्तापूर्ण और अत्यन्त सूक्ष्मता-पूर्वक काम करने की असाधारण क्षमता, और किसी काम के लिए सटीक आदमी ढूँढ़ निकालने की विशिष्ट योग्यता। उनकी लम्बी, मूर्तिवत आकृति पहले ताव्रिचेस्की प्रासाद (1917 में मज़दूरों और सिपाहियों की पेत्रोग्राद सोवियत की बैठक जहाँ हुई थी) की सोवियत में, फिर क्शेसिन्स्काया (फ़रवरी क्रान्ति के बाद बोल्शेविक पार्टी की पीटर्सबर्ग कमेटी की बैठक बैले नर्तकी क्शेसिन्स्काया के घर पर हुई थी) के घर में और अन्तत: स्मोल्नी में देखी जा सकती थी। अपने हाथों में वे एक नोटबुक लिये होती थीं और उनके चारों तरफ़ मोर्चे से आये कॉमरेडों, मज़दूरों, लालगार्डों, महिला श्रमिकों और पार्टी तथा सोवियतों का समूह किसी तेज़, स्पष्ट उत्तर या निर्देश की प्रतीक्षा में जमा रहता था। स्तासोवा अनेक महत्त्वपूर्ण मामलों की ज़िम्मेदारी सँभालती थीं, किन्तु यदि उन तूफ़ानी दिनों में कोई साथी किसी विपत्ति या परेशानी में होता था तो वे तत्काल ध्यान देती थीं। वे तत्काल ही उसका कोई संक्षिप्त, ऊपर से रूखा-सा लगने वाला जवाब देती थीं और खुद भी जितना बन पड़े करती थीं। वे कामों के बोझ से दबी रहती थीं और हमेशा अपनी जगह पर चुस्त रहती। हमेशा अपनी जगह पर... कभी भी अगली क़तार में और प्रतिष्ठा के घेरे में आने का प्रयास न करते हुए। वे कभी भी लोगों के ध्यान के केन्द्र में होना पसन्द नहीं करती थीं। उनकी सारी चिन्ता खुद के लिए नहीं, बल्कि उद्देश्य के लिए थी। कम्युनिज़्म के महान और लम्बे समय से संजोये हुए उद्देश्य के लिए, जिसके लिए येलेना स्तासोवा ने निर्वासन और ज़ारशाही जेलों की क़ैद भोगी जिसने उनके स्वास्थ्य को बुरी तरह तोड़ डाला. .. उद्देश्य के नाम पर वे वज्र की तरह थीं, इस्पात की तरह कठोर, किन्तु अपने साथियों के प्रति वे ऐसी संवेदनशीलता और सहानुभूति प्रदर्शित करती थीं, जो केवल एक स्नेही और उदारहृदय नारी में ही हो सकती है।

क्लॉदिया निकोलायेवा बहुत साधारण घर से आयी एक मज़दूर औरत थीं। वे 1908 में ही, प्रतिक्रिया के वर्षों में बोल्शेविकों के साथ हो गयी थीं, और निर्वासन और क़ैद झेल चुकी थीं। 1917 में वे लेनिनग्राद लौट आयीं और मेहनतकश औरतों की पहली पत्रिका 'कम्युनिस्तका' का हृदय बन गयीं। वे अभी भी युवा थीं और आवेग तथा अधैर्य से भरी हुई थीं। किन्तु उन्होंने लाल झण्डे को मज़बूती से थामा और निडरतापूर्वक घोषणा की कि मज़दूर औरतों, सिपाहियों की पत्नियों और किसान औरतों को पार्टी में लाना चाहिए। औरतो! काम पर चलो! सोवियतों और कम्युनिज़्म की रक्षा के लिए चलो!

जब वे बैठकों में भाषण देती थीं तो कुछ अधीर और खुद के प्रति पूर्ण आश्वस्त नहीं होती थीं, किन्तु फिर भी दूसरों को अपना अनुसरण करने के लिए आकर्षित करती थीं। वे उन लोगों में से एक थीं, जिन्होंने क्रान्ति में औरतों की व्यापक सामूहिक हिस्सेदारी का रास्ता तैयार करने में आने वाली सारी कठिनाइयाँ अपने कन्धों पर झेली थीं। वे उनमें से एक थीं जो एक साथ दो मोर्चों पर लड़े – सोवियतों और कम्युनिज़्म के लिए और उसी समय स्त्रियों की मुक्ति के लिए भी। क्लॉदिया निकोलायेवा और **कोंकोर्दिया समोइलोवा**, जो क्रान्ति के कामों के दौरान हैजे से मर गयीं, के नाम मेहनतकश स्त्रियों के आन्दोलन के पहले और सर्वाधिक कठिन क़दमों के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। कोंकोर्दिया समोइलोवा अद्वितीय नि:स्वार्थता वाली पार्टी कार्यकर्ता थीं। वे एक बढ़िया, व्यावहारिक वक्ता थीं और मज़दूर औरतों का दिल जीतना चाहती थीं। जिन्होंने उनके साथ काम किया है, वे लम्बे समय तक कोंकोर्दिया समोइलोवा को याद रखेंगे। वे बिल्कुल सादी पोशाक पहनती थीं और सरल व्यवहार करती थीं, किन्तु निर्णयों का कार्यान्वयन पूरी निष्ठा के साथ करती थीं – खुद के साथ और दूसरों के साथ भी पूरी सख़्ती बरतते हुए।

इनेस्सा आरमाँ की सौम्य और मोहक छवि विशेष रूप से ध्यान खींचती है, जिन पर अक्टूबर क्रान्ति की तैयारी में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पार्टी कार्य सौंपा गया था और जिन्होंने उसके बाद औरतों के बीच चलाये गये काम में अनेक रचनात्मक विचारों का योगदान किया। अपने व्यवहार की समस्त नारी सुलभ कमनीयता और सौम्यता के बावजूद इनेस्सा आरमाँ अपने विश्वासों पर अटल थीं और जिसे सही समझती थीं उसकी रक्षा विकट विरोधियों के सामने भी कर सकने में समर्थ थीं। क्रान्ति के बाद इनेस्सा आरमाँ ने खुद को औरतों का व्यापक आन्दोलन संगठित करने में समर्पित कर दिया और औरतों की प्रतिनिधि सभा उन्हीं की रचना है।

मास्को में अक्टूबर क्रान्ति के कठिन और निर्णायक दिनों में वार्वरा निकोलायेवा ने भारी काम किया था। बैरिकेडों की लड़ाई में उसने पार्टी हेडक्वार्टर के नेता के योग्य दृढ़संकल्प का परिचय दिया। बहुत सारे साथियों ने बताया कि उस समय उनके दृढ़ संकल्प और अडिग साहस ने उन्हें हिम्मत बँधायी जो विचलित हो रहे थे और हिम्मत हार बैठे लोगों को प्रेरित किया – 'आगे बढ़ो!' विजय तक।

महान अक्टूबर क्रान्ति में भाग लेने वाली औरतों को याद करते हुए मानो जादू से स्मृति से एक के बाद एक नाम और चेहरे उभरते आते हैं। क्या आज हम **वेरा स्लुत्स्काया** की स्मृति के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने में चूक सकते हैं जोकि नि:स्वार्थ भाव से क्रान्ति की तैयारी में काम करती रहीं और पेत्रोग्राद के निकट लाल मोर्चे पर कज़ाकों की गोली से मारी गयीं।

क्या हम **येव्गेनिया बॉश** को, उसके आग्नेय मिजाज को भूल सकते हैं, जो हर समय लड़ाई के लिए उत्सुक रहती थीं। वे भी क्रान्ति में अपने नियत स्थान पर लड़ती हुई मरीं।

क्या हम लेनिन के जीवन और कार्यों से नज़दीकी से जुड़े दो नामों – उनकी दो बहनों और विश्वस्त साथियों – **आन्ना इलिनिच्ना येलिज़ारोवा** और **मारिया इलिनिच्ना उल्यानोवा** का उल्लेख यहाँ छोड़ सकते हैं?

और मास्को की रेलवे वर्कशापों की **कॉमरेड वार्या**? हमेशा जीवन्त, हमेशा जल्दी में। और लेनिनग्राद की कपड़ा मज़दूर **फ़्योदोरोवा**, उसके खुशनुमा चेहरे और बैरिकेडों पर लड़ने के समय उसकी निर्भयता को क्या हम भूल सकते हैं?

उन सबके नाम गिनाना असम्भव है। और न जाने कितनी तो अनाम हैं। अक्टूबर क्रान्ति की नायिकाएँ एक पूरी सेना के बराबर थीं और नाम भले ही भूल जायें उस क्रान्ति की जीत में और आज सोवियत संघ में और औरतों को मिली उपलब्धियों और अधिकारों के रूप में उनकी नि:स्वार्थता जीवित रहेगी।

यह एक स्पष्ट और निर्विवाद तथ्य है कि औरतों की हिस्सेदारी के बिना अक्टूबर क्रान्ति में लाल झण्डे की विजय नहीं हो सकती थी। अक्टूबर क्रान्ति में लाल झण्डे के नीचे मार्च करने वाली औरतें ज़िन्दाबाद! औरतों को मुक्ति दिलाने वाली अक्टूबर क्रान्ति ज़िन्दाबाद! ●

उन्नीस सौ सत्रह, सात नवम्बर

मर रहा है रूसी साम्राजय
शीत प्रसाद में सुनाई नहीं देती लहँगों की रेशमी सरसराहट
और न ही ज़ार की ईस्टर की प्रार्थनाएँ,
न ही साइबेरिया की ओर जाती सड़कों पर ज़ंजीरों का क्रन्दन...
मर रहा है, रूसी साम्राज्य मर रहा है...
अब और नहीं भीगेंगी पोमेचिकों की पीली मूँछें
बोदका के गिलासों में
भूख से मरते मुझिकों की ताम्बई दाढ़ियाँ
अब और नहीं जलेंगी
काली मिट्टी पर चुल्लू भर रक्त की तरह
और आज
मौत
जो बढ़ रही है रूसी साम्राज्य की ओर
नहीं है उसका पीला सिर
पाँचा नहीं बल्कि
उसके हाथों में है एक ओजस्वी लाल झण्डा
और उसके गालों पर युवापन की रक्ताभा

उन्नीस सौ सत्रह
सात नवम्बर
अपने धीर-मन्द्र स्वर में
लेनिन ने कहा:
"कल बहुत जल्दी होता है और कल बहुत दूर हो चुकी रहेगी,
समय है आज।"
मोर्चे से आते हुए सैनिक ने
कहा, "आज!"
खन्दक जिसने मार डाला था भूख से मौत को, उसने कहा,
"आज"
अपनी भारी, इस्पाती काली
तोपों सक अअगाकरा नक
कहा "आज!"
कहा "आज!"
और यूँ दर्ज की बोल्शेविकी ने इतिहास में
इतिहास के सर्वाधिक गम्भीर मोड़-बिन्दु की तारीख़ :
उन्नीस सौ सत्रह
सात नवम्बर!

– नाज़िम हिकमत

चोर, भ्रष्ट और विलासी नेताशाही : भारतीय पूँजीवादी जनतन्त्र की एक नंगी और गन्दी तस्वीर

बीस रुपये रोज़ाना से कम की आमदनी पर गुज़ारा करने वाली भारत की क़रीब चौरासी करोड़ आबादी को देश के नेताओं के भ्रष्टाचार और ऐयाशी के बारे में तो पता है, लेकिन क़ानूनी तौर पर उन्हें जो वेतन-भत्ते-सुविधाएँ हासिल हैं, उन पर आम जनता की गाढ़ी कमाई का कितना बड़ा हिस्सा ख़र्च होता है, इसका वे अन्दाज़ा भी नहीं लगा सकते। क़ानूनी कमाई के अतिरिक्त, देश की नेताशाही और नौकरशाही दलाली, कमीशनख़ोरी और घूसख़ोरी के द्वारा जो काला धन जमा करती है, उसका अनुमान लगा पाना तो एक आम आदमी के लिए और भी मुश्किल है।

आइये, अन्तरराष्ट्रीय एजेंसियों और पूँजीवादी अख़बारों की कुछ रिपोर्टों, सूचना के अधिकार के तहत विभिन्न सरकारी महक़मों से हासिल की गयी कुछ जानकारियों और कुछ आर्थिक-राजनीतिक मामलों के बुर्जुआ विशेषज्ञों की पुस्तकों या लेखों से लिये गये थोड़े से चुनिन्दा तथ्यों और आँकड़ों की रोशनी में भारतीय जनतन्त्र की कुरूप, अश्लील और बर्बर असलियत को पहचानने की कोशिश करें।

सबसे पहले चुनाव और जनतान्त्रिक ढाँच के क़ानूनसम्मत ख़र्च-बर्च पर निगाह डाली जाये।

जिस देश में 35 करोड़ आबादी रात को भूखी सोती हो, प्रतिदिन नौ हज़ार बच्चे भूख और कुपोषण से मरते हों, 18 करोड़ लोग झुग्गियों में रहते हों, 18 करोड़ लोग फ़ुटपाथों पर सोते हों और तक़रीबन 80 करोड़ लोग अपनी बुनियादी ज़रूरतों को पूरा न कर पाते हों, वहाँ इन लोगों का प्रतिनिधित्व करने वालों पर सालाना (केन्द्र व राज्य के सभी मन्त्रियों, संसद सदस्यों, विधायकों को मिलाकर) खरबों रुपये (यानी कुछ हज़ार करोड़ रुपये) ख़र्च होते हैं। मानव विकास सूचकांक के हिसाब से, ग़रीबी के मामले में भारत भले ही दुनिया में सबसे नीचे पायदान के देशों (अफ़्रीका और सब-सहारा के कुछ देशों के साथ, तथा पाकिस्तान, नेपाल, बांग्लादेश से भी नीचे) खड़ा हो, लेकिन ऐशो-आराम के मामले में भारत के नेताओं का जीवन अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी, जापान आदि देशों के नेताओं के बराबर नहीं बल्कि उनसे काफ़ी आगे है। राजधानियों में उनके बंगले, उनकी एसी गाड़ियाँ, उनकी सुविधाएँ, उनके सेवा में तत्पर अमले-चाकर और सुरक्षाकर्मी – सब कुछ उन्हें राजाओं-महाराजाओं के जीवन का अहसास देता है।

भारत में एक संसद सदस्य को 12 हज़ार रुपये मासिक वेतन, बैठक आदि के लिए 10 हज़ार रुपये मासिक, कार्यालय के लिए 14 हज़ार रुपये मासिक, संसद के सत्रों के दौरान 500 रुपये दैनिक भत्ता मिलता है। इसके अतिरिक्त उन्हें प्रथम श्रेणी एसी में पूरे देश में मुफ़्त रेल यात्रा के लिए असीमित पास मिलता है। 40 हवाई यात्राएँ वे पत्नी या पीए के साथ मुफ़्त कर सकते हैं। 50 हज़ार यूनिट सालाना बिजली वे मुफ़्त जला सकते हैं, 1,70,000 टेलीफ़ोन काल सालाना मुफ़्त कर सकते हैं और दिल्ली में एमपी हॉस्टल में उनका रहना निःशुल्क होता है। संसद की कैण्टीन इतनी सब्सिडाइज़्ड होती है कि लगभग 10 प्रतिशत मूल्य का ही भुगतान करना पड़ता है। एक संसद सदस्य पर प्रति वर्ष 32 लाख रुपये, यानी पाँच वर्ष में एक करोड़ 60 लाख रुपये ख़र्च होते हैं। यानी कुल 543 संसद सदस्यों पर पाँच वर्षों में होने वाला कुल ख़र्च आठ अरब 68 करोड़ 80 लाख रुपये बैठता है। संसद में एक घण्टे की कार्यवाही (जो बहसबाज़ी, उछलकूद, नारेबाज़ी और सोने-ऊँघने से अधिक कुछ भी नहीं होती) पर क़रीब 20 लाख रुपये ख़र्च होते हैं। मन्त्रिमण्डल के सदस्यों और विभिन्न कमेटियों के सदस्यों के ख़र्चे आम संसद सदस्यों से कई गुना अधिक होते हैं। सभी मन्त्रालयों के भवनों और राजनेताओं के वैध-अवैध क़ब्ज़ों वाले भवनों का रखरखाव सीपीडब्ल्यूडी करता है।

केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल और सम्बद्ध विभागों का कुल ख़र्च वर्ष 2006-07 में 1 खरब 36 अरब डॉलर (यानी क़रीब 61 खरब 20 अरब रुपये) और 2007-08 में 1 खरब 66 अरब डॉलर था। वर्ष 2008-09 में इसके 1 खरब 75 अरब डॉलर हो जाने की उम्मीद है। पिछले वर्ष के मुक़ाबले वर्ष 2007-08 में केन्द्र सरकार की कर राजस्व (टैक्स रेवेन्यू) से होने वाली शुद्ध आय 23 प्रतिशत बढ़कर 3 खरब 75 अरब डॉलर हो गयी। ज्ञातव्य है कि करों से होने वाली कुल सरकारी आय का नब्बे फ़ीसदी से भी अधिक भाग आम लोग परोक्ष करों के रूप में देते हैं। यानी लगातार बढ़ते आकार वाले केन्द्र और राज्य के मन्त्रिमण्डलों के गुब्बारे के समान फूलते ख़र्च को आम लोग ज़्यादा टैक्स चुकाकर वहन करते हैं। मनमोहन सिंह 50 कैबिनेट मन्त्रालय सहित कुल 104 मत्रालयों का भारी भरकम काफ़िला चलाते हैं जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका कुल 15 मन्त्रालयों से अपना वैश्विक साम्राज्य सँभालता है।

अर्थशास्त्र की भाषा में ग़ैरयोजनागत ख़र्च (नॉन प्लैण्ड एक्सपेण्डीचर) वह सरकारी ख़र्च होता है जो योजना या वार्षिक बजट में शामिल नहीं होता। वर्ष 2005-06 में भारत के केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल का ग़ैरयोजनागत ख़र्च चार करोड़ पचास लाख डॉलर था, जिसमें यात्रा व्यय (एक करोड़ दस लाख डॉलर), प्रधानमन्त्री कार्यालय पर व्यय (38 लाख डॉलर) और0 स्पेशल प्रोटेक्टशन ग्रुप के कमाण्डो द्वारा सुरक्षा पर व्यय (दो करोड़ 43 लाख डॉलर) शामिल थे। यह ग़ैरयोजनागत ख़र्च 2008-09 में बढ़कर पाँच करोड़ डॉलर हो गया है। ध्यान रहे कि यह ख़र्च योजना और वार्षिक बजट के तहत ख़र्च होने वाले भारी ख़र्च के अतिरिक्त है। राष्ट्रपति, संसद, उप राष्ट्रपति के सचिवालय और लोक सेवा आयोग पर वर्ष 2007 में सितम्बर माह तक ग़ैरयोजनागत व्यय के मद में चार करोड़ 60 लाख डॉलर ख़र्च हुए जो वर्ष 2006 की इसी अवधि के मुक़ाबले 149 प्रतिशत अधिक था।

केन्द्र और राज्यों के मन्त्री प्रायः 50-50 कारों तक के काफ़िले के साथ सफ़र करते हुए देखे जाते हैं और जयललिता को तो सौ कारों के काफ़िले के साथ भी देखा गया है। उस वर्ष 9 जनवरी को वित्त मन्त्रालय के ख़र्च के महक़मे ने एक ऑफ़िशियल मेमारेण्डम में फ़ोर्ड मॉडल की एसी कार को स्टाफ़ कारों की फ़्लीट में शामिल करने की अनुशंसा की। लक्ज़री कारें मन्त्रियों और अफ़सरों की आम पसन्द हैं। सड़कों पर दौड़ने वाली कारों में से 33 प्रतिशत सरकारी सम्पत्ति हैं जो आम लोगों की गाढ़ी कमाई से धुँआ उड़ाती हैं। मन्त्रियों की सुरक्षा पर अनुमानतः 2 करोड़ 34 लाख डॉलर सालाना ख़र्च होते हैं। जेड प्लस श्रेणी की सुरक्षा में 36, जेड श्रेणी की सुरक्षा में 22, वाई श्रेणी की सुरक्षा में 11 और एक्स श्रेणी की सुरक्षा में दो सुरक्षाकर्मी लगाये जाते हैं। सुरक्षा के इस भारी तामझाम के चलते भी गाड़ियों और पेट्रोल का ख़र्च काफ़ी बढ़ जाता है। दिल्ली के किसी भी महँगे स्कूल के बाहर मन्त्रियों, नौकरशाहों को लाने-ले जाने के लिए सरकारी गाड़ियों की क़तारें देखी जा सकती हैं। शॉपिंग माल्स, ख़ान मार्किट, सरोज़नी नगर, साउथ एक्स और कनाट प्लेस में सरकारी गाड़ियों में मन्त्रियों-अफ़सरों की बीवियों का शॉपिंग करना आम बात है। रिसार्ट्स और वाटर पार्कों के बाहर सरकारी गाड़ियाँ भारी संख्या में खड़ी मिलेंगी।

केन्द्र और राज्य के सभी मन्त्रियों और जन प्रतिनिधियों की सुरक्षा पर सालाना कई खरब रुपये ख़र्च होते हैं।

अब ज़रा चुनाव के ख़र्चों पर भी एक निगाह डाली जाये। वर्ष 2004 के लोकसभा चुनावों में पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों को छोड़कर, कुल 40 लाख सरकारी कर्मचारियों को लगाया गया था और कुल घोषित प्रत्यक्ष ख़र्च 13 अरब रुपये हुए था। ज़ाहिर है कि सभी प्रत्याशियों द्वारा चुनाव प्रचार के कुल ख़र्च (गाड़ियों से प्रचार, पर्चे-पोस्टर, गुण्डा गिरोहों, भाड़े के प्रचारकों और कम्बल-शराब आदि बाँटने के ख़र्चों को मिलाकर) को यदि जोड़ लिया जाये तो लोकसभा चुनावों का कुल ख़र्च उपरोक्त सरकारी ख़र्चे के दस गुना से भी अधिक होगा।

"दुनिया का सबसे बड़ा जनतन्त्र" इस देश की जनता पर कितना भारी पड़ता है, इसका एक छोटा सा उदाहरण यह भी है कि पिछले पाँच वर्षों के दौरान राष्ट्रपति भवन का सिर्फ़ बिजली का बिल साढ़े 16 करोड़ रुपये का था। प्रधानमन्त्री कार्यालय का पिछले तीन वर्षों की बिजली का बिल 37.26 लाख रुपये था। यह सारा ख़र्च और सभी मन्त्रालयों, सचिवालयों और संसद भवन की बिजली का ख़र्च केन्द्रीय सार्वजनिक निर्माण विभाग (सीपीडब्ल्यूडी) ने उठाया। पाँच वर्षों का अकेले बिजली का ही कुल ख़र्च अरबों रुपये अनुमानित है। सभी सरकारी भवनों के रखरखाव और राजनेताओं की फ़रमाइश के अनुसार लगातार होते रहने वाले निर्माण-कार्य पर सालाना अरबों रुपये ख़र्च होते हैं। 340 भव्य कक्षों वाले और कई एकड़ के बाग़ों-पार्कों वाले राष्ट्रपति भवन के रखरखाव पर सालाना करोड़ों रुपये ख़र्च होते हैं। भारत के ख़र्चीले और विलासी जनतन्त्र और औपनिवेशिक विरासत के प्रति लगाव का एक जीवन्त प्रतीक चिह्न है राष्ट्रपति भवन, जो कभी वायसराय का आवास-स्थल हुआ करता था। यह इमारत इतनी बड़ी है कि सरकारी कामकाज के लगभग सभी दफ़्तर इसी में व्यवस्थित हो सकते हैं। वरिष्ठ स्तम्भकार तवलीन सिंह ने एक बार सुझाव दिया था कि मन्त्रियों सहित राज्यसभा-लोकसभा के कुल 780 सदस्यों को एक साथ हॉस्टलों में रखा जाना चाहिए। चलिये, कुछ और उदार हो जायें। यदि इन सभी 780 महाप्रभुओं को एक या दो परिसरों में दो-तीन बेडरूम, ड्राइंग रूम और ऑफ़िस से युक्त लग्जरी फ़्लैटों वाली बहुमंज़िली इमारतों में व्यवस्थित कर दिया जाये तो आवास, रखरखाव, बिजली और सुरक्षा मदों में ही सालाना अरबों रुपये बचाये जा सकते हैं। फ़िलहाल कुछ हज़ार नेता और अफ़सर अकेले दिल्ली के उतने बड़े इलाक़े में रहते हैं, जितने में शेष दिल्ली की लगभग 80 लाख आबादी रहती है। प्रान्तीय राजधानियों में भी कमोबेश ऐसी ही स्थिति है।

ध्यान रहे कि इस निबन्ध में हम केवल नेताओं की परजीवी जमात की बात कर रहे हैं, उस भारी-भरकम नौकरशाही तन्त्र के वेतन-भत्तों और अन्य ख़र्चों की यहाँ चर्चा नहीं की गयी है जिसमें ऊपर सचिव स्तर से लेकर नीचे कलक्टर-तहसीलदार तक, डीजीपी से लेकर एसपी तक, बिजली, सिंचाई, स्वास्थ्य, शिक्षा, रेल, डाक-तार, जंगलात, यातायात, उद्योग-व्यापार आदि विभागों के अफ़सरों-इंजीनियरों से लेकर राजनयिकों तक – पूरे देश में क़रीब 70-75 लाख ऐसे अधिकारी होंगे जो अपनी वैध कमाई से पश्चिमी देशों के पैमाने पर उच्च-मध्यवर्ग की ज़िन्दगी बिताते हैं, इनकी अवैध कमाई और सार्वजनिक सम्पत्ति की लूट की तो बात ही छोड़ दें।

यह तो हुई नेताओं की विधिसम्मत कमाई और विशेष सुविधाओं की बात, अब भ्रष्टाचार और काली कमाई की भी थोड़ी चर्चा कर ली जाये, जो वास्तव में सफ़ेद कमाई से दस गुना-बीस गुना अधिक होती है। बात थोड़ा पहले से शुरू की जाये।

नेताओं द्वारा कमीशनख़ोरी और घूस से धन कमाने और स्विस बैंकों में जमा करने का काम नेहरू काल में शुरू हो चुका था, पर उस समय बुर्जुआ राजनीति उस हद तक पतित नहीं हुई थी। 1950 और 1960 के दशकों में अख़बारों के पन्नों पर केवल कुछ घोटालों की चर्चा ही देखने को मिलती थी। 1970 के दशक में दलबदल और राजनीतिक अवसरवाद के साथ ही नेताओं और नौकरशाहों द्वारा दलाली, घूसख़ोरी, घोटालों में भारी वृद्धि हुई। सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों और विभागों से लाभ उठाने, आपूर्ति एवं निर्माण के सरकारी ठेके हासिल करने, आयात-निर्यात के लाइसेंस हासिल करने और कर चोरी करने के लिए पूँजीपति, व्यापारी और ठेकेदार नेताओं और सरकारी अधिकारियों को बड़े पैमाने पर कमीशन और घूस देने लगे। इसके अतिरिक्त आम लोग हर छोटे-मोटे काम के लिए सरकारी दफ़्तरों से लेकर कचहरियों तक क़दम-क़दम पर घूस देते रहे, वह भी बँटती हुई ऊपर तक पहुँचती रही। यह रक़म पूँजीपतियों-व्यापारियों, ठेकेदारों द्वारा दी गयी दलाली व कमीशन की रक़म से कम नहीं बल्कि ज़्यादा ही थी। पूँजीपति-व्यापारी भी नेताओं-अफ़सरों को जो घूस-कमीशन देते हैं, उसकी भरपाई आम लोगों को निचोड़कर और ठगकर ही करते हैं। 1970 के दशक तक सार्वजनिक क्षेत्र के उच्च पदस्थ नौकरशाह नेताओं को लूट का भागीदार बनाकर जनता की गाढ़ी कमाई से खड़े उपक्रमों को दीमक की तरह खोखला बनाते रहे। फिर आया 1980 का दशक, जब इंस्पेक्टर राज और लाइसेंस कोटा प्रणाली का ख़ात्मा करके भ्रष्टाचार का उन्मूलन करने का लोकरंजक नारा देते हुए इन्दिरा गाँधी और फिर राजीव गाँधी ने निजीकरण-उदारीकरण के दौर के लिए भूमिका तैयार की। तर्क यह दिया गया कि आर्थिक प्रक्रिया पर सरकारी तन्त्र की जकड़ ढीली करके बाज़ार के स्वाभाविक तर्क को निर्बन्ध करने से तेज़ आर्थिक विकास के साथ ही भ्रष्टाचार में भी कमी आयेगी। लेकिन तथ्य एवं आँकड़े बताते हैं कि व्यवहार में इसका उलटा हुआ। सरकारी विकास योजनाओं में धन की लूट तो पूर्ववत चलती ही रही और उन सरकारी दफ़्तरों में भी भ्रष्टाचार जारी रहा, जिनसे आम लोगों का काम पड़ता था। पर अब एक बड़ा फ़र्क़ यह पड़ा कि प्राकृतिक संसाधनों के भण्डारों, राजकीय उपक्रमों और ज़मीन आदि को देशी-विदेशी पूँजीपतियों के हवाले करने, उन्हें महँगे सौदे और ठेके देने, लाइसेंस देने और करों में छूट देने के बदले में राजनेताओं और नौकरशाहों को करोड़ों-अरबों रुपये की दलाली मिलने लगी। बोफ़ोर्स घोटाला, चारा घोटाला, पनडुब्बी घोटाला आदि अनगिन घोटालों का नया दौर शुरू हो गया जो आज तक जारी है।

स्मरणीय है कि स्विट्ज़रलैण्ड की प्रसिद्ध पत्रिका 'स्वाइजर इलस्ट्रायटी' ने 1991 में लिखा था कि पूर्व प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी तीसरी दुनिया के उन चौदह पूर्व शासकों में शामिल हैं जिन्होंने अपना धन स्विस बैंकों में छिपा रखा है। उनके स्विस बैंक खातों में 46 अरब 25 करोड़ रुपये जमा हैं। सूत्रों के अनुसार, 1984 में अर्थव्यवस्था पर सार्वजनिक नियन्त्रण क्रमशः हटाये जाने के साथ ही स्विस बैंकों में जमा भारतीय काला धन बढ़ता गया और यह प्रक्रिया 1991 के बाद और तेज़ हो गयी। विश्व बैंक की 1986 की रपट के हवाले से अर्थशास्त्री बी. एम. भाटिया ने अपनी पुस्तक 'इण्याज़ मिडिल क्लास' में स्विस बैंकों में जमा भारतीय काला धन का परिमाण 13 अरब रुपये बताया था। फिर 'आउटलुक' के 26 मार्च 1997 के अंक में स्विट्ज़रलैण्ड के दिल्ली स्थित दूतावास के उप प्रमुख का एक बयान छपा था जिसके अनुसार भारतीयों का स्विस में जमा धन दो खरब 80 अरब रुपये के आसपास था। और अब इस वर्ष, विगत 8-9 मई को सीएनएन-आईबीएन न्यूज़ चैनल ने स्विस बैंकिंग एसोसिएशन की 2006 की रपट के हवाले से बताया है कि स्विस बैंकों में भारतीयों की जमा राशि 1,456 अरब डॉलर है। यदि डॉलर का औसत मूल्य 40 रुपये भी मान लिया जाये तो यह धनराशि 582 खरब 40 अरब रुपये होगी। यानी

(शेष पेज 5 पर जारी)

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी डा. दूधनाथ द्वारा 69, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा वाणी ग्राफिक्स, अलीगंज, लखनऊ से मुद्रित। कम्पोजिंगः कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल पकाउण्डेशन, लखनऊ।
सम्पादक : डा. दूधनाथ, सुखविन्दर • सम्पादकीय पता : 69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226 020 • सम्पादकीय उपकार्यालय : जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ